ध्रुव को भगवद्दर्शन

श्री भागवत-दर्शन ११-

भागवती कथा

(एकादश खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य ३-०० रुपये

चतुर्थ संस्करण १००० प्रति | अधिक वैशाख कृष्ण २०२६ मई १९६९ | मूल्य—१.६५

मुद्रक बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

ध्रुवजी का जन्म

[२१८]

प्रियव्रतोत्तानपादौ शतरूपापतेः सुतौ
वासुदेवस्य कलया रक्षायां जगतः स्थितौ ॥
जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः ।
सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ॥*
(श्री भा० ४ स्क० ८ अ० ७, ८ श्लो०)

छप्पय

शतरूपा पति स्वायम्भुव मनु तेज तपोयुत ।
प्रियव्रत अरु उत्तानपाद तिनके द्वै शुभ सुत ॥
द्वी महिषी उत्तानपादकी सुरुचि सुनीती ।
किन्तु नृपतिकी अधिक सुरुचि पत्नीपै प्रीती ॥
सुरुचि पुत्र उत्तम जन्यो, नृप को अति प्रिय ह्वै गयो ।
बड़ी सुनीति तिरस्कृता, तिनको शुभ सुत ध्रुव भयो ॥

गुण अवगुण ससार में मिले-जुले रहते हैं। यह ससार प्रवाह अनादि है। जब से जीव इस देह मे अहबुद्धि करके कर्मों का

---

* स्वायम्भुव मनु के उनकी पत्नी शतरूपा मे प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये दोनो ससार की रक्षा मे स्थित थे, क्योंकि भगवान् के कलावतार थे। उत्तानपाद के दो सुनीति और सुरुचि नाम की पत्नियाँ थीं, किन्तु उन दोनो मे सुरुचि उन्हें अधिक प्रिय थी, दूसरी सुनीति में उनका अनुराग नही था। सुनीति के ही सुत ध्रुवजी थे।

भोग करने लगा है, तभी से उसके शरीर में गुण और दोष लगे रहते हैं। गुणों का अत्यधिक प्राधान्य हो, तो देवयोनि मिलती है, दोषों का प्राधान्य हो तो असुर योनि। दोनो सामान्य रूप में हों तो मनुष्य योनि प्राप्त होती है। बड़ों में भी कुछ दोष रहते हैं, किन्तु उनकी महत्ता के कारण वे अवगुण छिप जाते हैं। मानवी सृष्टि में गुण, दोष का होना स्वाभाविक है, किन्तु मनुष्य में यही विशेषता है, कि वह अपने दोषों को समझकर उनका मार्जन कर सकता है। अन्य भोग योनियों में ऐसा नहीं होता। मानवी सृष्टि का विस्तार मनु पुत्रों से ही हुआ है।

विदुरजी ने मैत्रेय मुनि से पूछा—"भगवन्! यह बात तो आपने बताई कि भगवान् ब्रह्मा के दो रूप हो गये, आधे से स्त्री, आधे से पुरुष। पुरुष का नाम स्वायंभुव मनु और स्त्री का नाम शतरूपा। ये दो ही सृष्टि के प्रथम स्त्री, पुरुष थे। इन दोनों ने विवाह करके आकूति, देवहूति और प्रसूति ये तीन कन्यायें तथा प्रियव्रत, उत्तानपाद, ये दो पुत्र उत्पन्न किये। आपने तीनों कन्याओं के वंश का वर्णन तो कर दिया, किन्तु पुत्रों के वंशों का वर्णन नहीं किया। मनु पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद के वंश को श्रवण करने की मेरी बड़ी उत्कंठा है। अतः कृपा करके इनके वंश का भी वर्णन मेरे प्रति और करें।"

विदुरजी के ऐसे प्रश्न करने पर मैत्रेय मुनि कहने लगे—"विदुरजी! मैं आपके सम्मुख सतरूपा पति महाराज स्वायम्भुव मनु के वंश का वर्णन करूँगा। भगवान् छः रूप रखकर इस सृष्टि का पालन करते हैं। १—मनु, २—मनुपुत्र, ३—देवताओं के गण ४—इन्द्र, ५—सप्तर्षि और ६—मन्वन्तरावतार। अतः मनु भी भगवान् के अंश हैं। उनके पुत्र भी भगवान् के कलावतार होने से संसार का पालन-पोषण करते हैं। मनुपुत्र महाराज

प्रियव्रत का चरित्र तो मैं आगे कहूँगा, इस समय तो मैं आपके सामने परम भागवत उत्तानपाद के वंश का वर्णन करता हूँ।

स्वायम्भुव मनु के पुत्र दूसरे उत्तानपाद बड़े ही यशस्वी हो गये हैं। वे ब्रह्मावर्त के प्रथम राजा थे। उनके दो रानियाँ थीं, बड़ी का नाम सुनीति और छोटी का नाम सुरुचि। सुनीति उतनी सुन्दरी तो नहीं थी, किन्तु स्वभाव की मृदु थी, मधुरभाषिणी थी, सद् असद् का उन्हें विवेक था, भगवान् के चरणों में उनका अनुराग था, वह समझती थी कि संसार के सभी पदार्थ असार हैं, सार तो एक श्रीसर्वेश्वर ही हैं।

इसके विपरीत सुरुचि अत्यधिक सुन्दरी थी, स्वभाव की कर्कशा थी, परुष वचन बोलने वाली थी, वह संसारी भोगों को ही सर्वश्रेष्ठ समझने वाली तथा बड़ी अहंकारिणी थी, विदुरजी! इस शरीर सौन्दर्य का एक तो मद वैसे ही अत्यधिक होता है, यदि शरीर सौन्दर्य के साथ धन ऐश्वर्य भी हो, तब तो फिर क्या पूछना है बन्दर वैसे ही चञ्चल है। ऊपर से उसे भाँग पिलाया जाय, गिलोय वैसे ही कड़वी होता है, फिर उसे नीम पर चढ़ा दिया जाय, भाँग वैसे ही नशीली होती है, फिर उसमें तांबा घोट दिया जाय, इस प्रकार ये जैसे आवश्यकता से अधिक मादक तथा कड़वे हो जाते हैं, उसी प्रकार सुरुचि भी गर्विणी तथा कर्कशा हो गई थी।

मनुष्य की दृष्टि ब्रह्माजी ने बाहर की ही ओर बनाई है। साधारणतया मनुष्य बाहरी सौन्दर्य पर ही लट्टू हो जाते हैं। भीतरी गुणों का आदर तो कोई विरले पारखी ही करते हैं। महाराज उत्तानपाद का भी अनुराग अपनी छोटी सुन्दरी रानी सुरुचि के ही ऊपर अधिक था। वे उसे ही अत्यधिक प्यार करते थे। नियमानुसार सुनीति बड़ी थी, अतः महिषी होने का अधिकार उन्हें ही था, किन्तु वे राजा की कृपापात्री न बन सकीं।

यदि मनुष्य के हृदय में ईर्ष्या न हो, तो वह पृथ्वी पर रहकर ही मुक्त है। बन्धन का कारण ईर्ष्या ही है। ईर्ष्या से ही राग, द्वेष, जलन, वेर लडाई-झगडे सब होते हैं। ईर्ष्यावश ही हम दूसरों को उसके अधिकार से च्युत करना चाहते हैं। अपने को सर्वश्रेष्ठ बनाने के लिये ईर्ष्यावश हम दूसरों के विनाश के लिये भी उतारू हो जाते हैं।

सुरुचि के मनमें भी सौतिया डाह उत्पन्न हुआ। उसके मनमें तो खटका लगा था, कि मैंने जो राजा के हृदय पर इतना अधिकार कर लिया है, यह नियमानुसार उचित नहीं है। इसकी अधिकारिणी तो मेरी बडी सौत सुनीति देवी ही है, इसलिये वह सुनीति को अपने सुख में शूल समझने लगी। काँटे की भाँति सुनीति उसके हृदय में चुभने लगा। उसे भय था, कि सौन्दर्य तो सदा स्थाई रहने वाली वस्तु है नहीं, जहाँ मेरे सौन्दर्य में कमी हुई, वहाँ राजा मुझे छोडकर उसे अपना लेंगे। वह बुद्धिमती है, गुणवती है, साधु स्वभाव की है, फिर मुझे उसके अधीन रहना पडेगा। उसका पुत्र राज्य का अधिकारी होगा। यह सब सोचकर वह सुनीति के विनाश की बातें सोचने लगी। उसने बडी रानी की बुराई करते करते राजा के ऐसे कान भरे, कि उनका मन सुनीति की ओर से और भी अधिक फिर गया। राजा तो सुरुचि के अधीन थे ही, उसके कहने से सुनीति को राजमहलों से निकाल भा दिया। वह बिचारी पति से परित्यक्ता होकर एकान्त में अपने दिन काटने लगी।

किसी समय महाराज भूले भटके सुनीति के यहाँ पहुँच गये। सुनीति के मन में तो कोई बुरा भाव था ही नहीं। वह तो महाराज को ही अपना देवता, सर्वस्व समझती थी। वे मुझे न प्यार करें, उनको प्यार करने को और भी बहुत हैं। चन्द्रमा के कुमुदिनी बहुत हैं, किन्तु कुमुदिनी के लिये तो चन्द्रमा एक

ही हैं। मेरी तो गति वे ही हैं। पतिव्रता के लिये पति कैसा भी हो, वह पूजनीय ही है। उस परित्यक्तावस्था में भी सुनीति को महाराज का कृपाप्रसाद प्राप्त हुआ, उनके गर्भ रहा और उसी दुखित अवस्था में ही उनके गर्भ से एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। जिसका नाम ध्रुव रखा गया। यह ध्रुव अपनी तपस्या और भगवत् भक्ति से अजर, अमर और सनातन हो गये। आज भी वे आकाश मे प्रकाशित होकर अपनी माँ सुनीति के गौरव को बढाते हुए, उसके मुख को उज्वल बनाये हुए हैं। दुःख में ही भगवान् का निरन्तर स्मरण होता है, जो गर्भिणी माता, निरन्तर भगवत् स्मरण करती रहती है, उनके गर्भ से अवश्य ही भगवत् भक्त पुत्र उत्पन्न होता है। प्रह्लादजी की माता देवताओं से सताई गई थी, कृपावश नारदजी उसे अपने आश्रम पर ले आये। दुःखिनी अनाथा वह दैत्यपत्नी मुनि की सेवा करती हुयी, निरन्तर भगवत् स्मरण करती रही, मुनि से कथा-वार्ता भगवत्चर्चा सुनती रही। तभी तो सुरासुर वन्दित भक्ताग्रगण्य श्रीप्रह्लादजी का उसके गर्भ से जन्म हुआ। माता सुनीति देवी भी अपने दुःख के समय को प्रभु की देन समझकर सन्तोष के साथ काटती हुई रात्रि दिन भगवान के ही ध्यान में मग्न रहती थीं। पुत्र हो जाने से उनका सम्पूर्ण ममत्व उसी मे केन्द्रीभूत हो गया था। उसे ही अपने पति की प्रतिकृति समझकर वे बडे स्नेह, बड़े लाड, प्यार से उसका पालन पोषण करने लगीं।

इधर सुरुचि रानी ने भी एक पुत्र पैदा किया। उसका, माता ने बडे स्नेह से नाम रखा "उत्तम"। बाहरी सुरुचि से बाहरी उत्तम की उत्पत्ति होती है, किन्तु उसकी उत्तमता स्थाई नहीं रहती। वह शीघ्र नष्ट होती है, किन्तु जो अटल है, ध्रुव है, वह सदा स्थाई रहता है। सुरुचि का पुत्र प्यारा दुलारा उत्तम होने पर भी वह अधम है, अध्रुव है, किन्तु तिरस्कृता सुनीति का दुरूप

सुत होने पर भी श्रेष्ठ है, ध्रुव है, स्थाई है। इसलिये सुरुचि अर्थात् प्रेम को छोडकर सुनीति अर्थात् श्रेय को ही अपनाना चाहिये। श्रेय से ही ध्रुवत्व प्राप्त हो सकता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! दोनों ही राजकुमार अपने-अपने यहाँ बैठने लगे। उत्तम राजमहलों में रहकर माता-पिता के प्यार को पाकर उन दोनों की गोदी में सुख से बढ़ने लगा और ध्रुव अपनी माँ की कुटी में अपनी एकाकी तिरस्कृता जननी के वात्सल्य स्नेह को पान करते हुए, हरि गुणगान और श्रवण करते हुए बढ़ने लगे।

छप्पय

परमसुन्दरी सुरुचि भूप वशमें करि लीन्हें।
ध्रुवकी मातु सुनीति दुःख ताकूँ बहु दीन्हें॥
प्रभु सुमिरन नित करे पत्र हूँ जिही सिखावै।
बेटा! जगमहँ पुरुष भाग्य ही तें सब पावै॥
हरि चिन्तन ही लाभ अति, हरि सुमिरन ही श्रेष्ठ सुख।
परम कष्ट हरि विस्मरण, शरणागतकूँ कवन दुख॥

—०—

पिता के द्वारा ध्रुवजी का तिरस्कार

[२१६]

एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्कमारोप्य लालयन् ।
उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत ।।*

(श्री भा० ४ स्क० ८ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

एक दिनाकी बात गये ध्रुव महलनि भीतर ।
उत्तमकूँ लै गोद मोद यत बैठे नृपवर ।।
ललकि गोदमहँ चढ़न मनोरथ ध्रुव ने कीन्हों ।
किन्तु सुरुचि रुचि निरखि गोद सुत नृप नहिँ लीन्हें ।।
ध्रुव हिय की इच्छा लखी, सौतेली माँ हँसि परी ।
सुमिरि सौतिया डाह कूँ, ध्रुव माँ की निन्दा करी ।।

बाल हृदय कितना सरल, कितना सुकोमल, कितना भोला-भाला होता है, उसमें राग-द्वेष की गन्ध नहीं, अपने पराये का विशेष ध्यान नहीं। ऊँच नीच रूपी असाम्यता नहीं, जहाँ प्रेम देखा, वहीं चले गये। जिसने प्यार से बुलाया, उसी की गोदी में बैठ गये, जिसने खाने को दिया खा लिया, जिसने मुँह चूमना चाहा उसी से लिपट गये। फूल की तरह सदा खिले रहना

---

* एक दिन महाराज उत्तानपाद सुरुचि के पुत्र उत्तम को गोद मे लिये हुए थे। उसी समय ध्रुव भी राजा की गोद मे चढना चाहते थे, किन्तु राजा ने उनका अभिनन्दन नही किया, उन्हे गोदी मे नही लिया।

मोद में भरकर सदा किलकते रहना यही बच्चों का व्यापार है, भगवान् की भाँति वे भी भाव के भूखे हैं, वे भी प्रभु की भाँति भक्तों के वश में हो जाते हैं। जैसे भगवान् बिना किसी स्वार्थ के क्रीडा करते रहते हैं, उसी प्रकार बच्चे भी क्रीडा प्रिय हैं, तभी तो हमारे यहाँ बच्चों को गोपाल, कहने की प्रथा है। सचमुच बालक गोपाल के साकार स्वरूप है। इसीलिये अवधूत परमहंस बालकों से बडा स्नेह करते हैं, बालकों के साथ खेलते हैं और स्वयं बालक बन जाते हैं।

जिस प्रकार बच्चे तनिक फूल दिखाने पर ही लट्टू हो जाते हैं, उसी प्रकार तनिक-सी डाँट डपट पर वे रो भी पड़ते है, उनका हृदय छुई-मुई की भाँति है, जहाँ किसी ने अपमान और तिरस्कार पूर्वक उनकी ओर देखा कि उनका हृदय कुम्हिला गया, फिर वे अपने को रोकने मे समर्थ नहीं होते।

माता सुनीति ने अपने इकलौते प्यारे बेटे को अत्यन्त प्यार के साथ सम्पूर्ण ममता बटोरकर सम्पूर्ण आशाओं को उसी पर केन्द्रित करके कृपण के धन के समान, अपने हृदय के टुकड़े ध्रुवको पाला-पोसा। पलकें जैसे आँखों की रक्षा करती हैं, पर घर से आई नई बहू का जैसे अच्छे स्वभाव वाली स्नेहमयी सास ध्यान रखती हैं, वैसे ही वह सदा उसको देख रेख करती थी। उसे रोना होता तो छिपकर रो लेती, बच्चे के सामने वह सदा हँसती रहती। उसने उसे स्नेह भरित हृदय के भुलने में भुलाया था। प्रेमपीयूष पिलाकर प्रेमपूर्वक पाला पोसा था। स्वयं गीले में सोती उसे सूखे मे सुलाती, स्वय नहीं खाती उसे खिलाती। उस अमूल्य निधि को पाकर वह पति के तिरस्कार को भी भूल गई, राजरानी के पद की उसने चिन्ता नहीं की। मेरा बच्चा जी पड़े, यह बडा हो जाय, यही मेरे लिये सब कुछ है। इसी के सहारे जीवन के शेष दिनों को राम-राम रटती हुई काट ले

जाऊँगी। माँ नित्यप्रति विविध भाँति के मनोरथ करती, देवताओं की मनौती मनाती बच्चे को भाँति-भाँति की बातें सुनाकर रिझाती, उसे प्यार करती, चूमती-चाटती और उसके साथ तन्मय हो जाती। शनैः-शनैः बच्चा बढ़ने लगा। घुटुनुओं के बल चलने लगा, तुतली बानी मे बोलने लगा। अम्मा को 'अम्ला' कहकर पुकारने लगा। इसी प्रकार बढते बढते पाँच वर्ष का हो गया। बच्चे ने जिज्ञासा की—"अम्मा! हमारे पिता कहाँ रहते हैं?"

माँ का हृदय रो पडा, किन्तु हाय रे मातृ-हृदय! उन भीतरी आँसुओं को भीतर ही भीतर पीकर, ऊपर से हँसते हुए माँ ने उँगली से पिता का महल दिखा दिया। बच्चों को तो कोई कुतूहल की वस्तु चाहिये। बाल्यकाल मे नई वस्तुओं का परिचय पाने का बच्चों को बडा कुतूहल होता है। जिस वस्तु को भी देखते हैं, उसी से परिचित होना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध की भाँति भाँति की बातें पूछते हैं। उनके सब प्रश्नों का उत्तर दिया ही नहीं जा सकता।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! बालक ध्रुव कुतूहलवश एक दिन खेलते खेलते अपने पिता के महलों मे चले गये। कैसे भी सही, थे तो वे बडी महारानी के पुत्र ही। नौकर चाकर उनका उसी प्रकार आदर करते थे। यद्यपि राजा अपनी छोटी रानी सुरुचि के वश में थे, फिर भी पुत्र के प्रति उनका आन्तरिक स्नेह तो था ही। बूढी दासियाँ बडे सत्कार से ध्रुव जी को भीतर ले गई। दूर से उन्होंने सिंहासन पर बैठे हुए राजा को दिखाकर ध्रुव से कह दिया—"कुमार! अपने पिता के पास जाओ।"

इतने सजे बजे उच्चासन पर पिता को देखकर ध्रुव की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। अत्यन्त उल्लास के साथ बडी उत्सुकता से कुमार ललककर पिता की गोद की ओर बढ़े। उस

समय महाराज उत्तानपाद सुरुचि के पुत्र उत्तम को गोद में लिये प्यार कर रहे थे। ध्रुवजी का हृदय भी पितृ प्रेम के लिये व्याकुल होने लगा। उनको भी अभिलाषा हुई, पिता मुझे भी इसी प्रकार गोदी में लेकर प्यार करें। मुझे भी स्नेह से चूमें। अपने सगे पुत्र का इस प्रकार गोदी में चढ़ने को उत्सुक देखकर पिता का हृदय भर आया, वे भी उसे लेना ही चाहते थे कि समीप में खड़ी सुरुचि आँखों में ही संकेत कर दिया—'खबरदार, यदि इसे गोद में लिया तो ?'' राजा तो उसके वश में ही थे, बेचारे बच्चे को उन्होंने उठाया नहीं। उसका अपमान किया। बच्चे के कोमल हृदय पर आघात हुआ। इस तिरस्कार से नवनीत के समान स्निग्ध बाल हृदय को ठेस लगी। इतना ही होता तो बच्चा जैसे-तैसे सह भी सकता था, उसको विमाता ने घाव पर नमक छिड़क दिया। अपने विष बुझे तीक्ष्ण वाग्बाणों से बच्चे के हृदय को छेद दिया।

सूखी हँसी हँसकर तिरस्कार के स्वर में अपनी सौत को अपमानित करती हुई बच्चे को सुनाकर अत्यन्त ईर्ष्या के सहित उत्तम की माँ सुरुचि बोली—"बेटा तुम राजसिंहासन पर बैठना चाहते हो। उत्तम की समता करने को लालायित हो ? चक्रवर्ती की गोद में चढ़ने को मचल रहे हो ? यह तुम्हारा मनोरथ व्यर्थ है।"

ध्रुवजी ने कहा—"माँ ! क्या मैं महाराज का पुत्र नहीं हूँ ?"

द्वेषाग्नि में जलती हुई मीठे तिरस्कार के स्वर में सुरुचि ने कहा—"वत्स ! मैं मानती हूँ, तुम राजपुत्र हो, किन्तु राजपुत्र होने से ही कोई सिंहासन का अधिकारी नहीं हो जाता। राजसिंहासन पर तो अत्यन्त पुण्यों से बैठना होता है। तुम्हारे पुण्य हैं तो सही किन्तु अल्प हैं। यदि तुम मेरे गर्भ से उत्पन्न हुए होते तो इस सिंहासन पर बैठने के अधिकारी हो सकते थे, किन्तु तुमने

तो मेरी दासी के गर्भ से जन्म लिया है। हा, यदि तुम बैठने को अत्यन्त ही उत्सुक हो तो मैं तुम्हे एक उपाय बताती हूँ। तुम घोर तप करो, उस तपस्या के प्रभाव से फिर मेरी कोख से पैदा होओ तब तुम इस आसन पर बेठने के अधिकारी बन सकते हो।"

ध्रुव बालक ही थे, इन वचनों को सुनते ही उनका हृदय भर आया। वे एक शब्द भी फिर न बोल सके। अपनी माता की सौत के ऐसे तीक्ष्ण अपमानयुक्त वचन सुनकर उन्हे उसी प्रकार क्रोध आया, जैसे अत्यन्त भूखे पुरुष के सम्मुख से परसा थाल उठा लेने पर उसे क्रोध आ जाता है। दण्ड से मारे सर्प के समान वे फुफकार छोडने लगे। क्रोध से उनके ओठ फरकने लगे। दुःख से उनकी आँखों से श्रावण भादों की वर्षा के समान झर-झर आँसू बहाने लगे। उनका गला भर आया। उन्हे एक क्षण भी वहाँ रहना भार-सा प्रतीत हो रहा था। रोते-रोते उन्होंने एक बार अपने पिता के मुख की ओर देखा, राजा के मुख मण्डल पर विषाद विवशता, व्याकुलता तथा दुःख के चिन्ह स्पष्ट प्रतीत हो रहे थे, बच्चे ने फिर किसी की ओर न देखा। वह ढाह मार-कर रोते हुए अपनी माता के समीप चल दिया। अबोध बालक का आश्रय माता की गोदी के अतिरिक्त और कौन है। ध्रुव अत्यन्त ही करुण स्वर मे रोते जाते थे। उन्हें इस प्रकार रोते हुए देखकर वात्सल्य स्नेहवश बहुत से स्त्री पुरुष उसके पीछे पीछे लग लिये, पर बच्चा किसी की ओर देखता भी नहीं था। वह तो अपने करुण क्रन्दन से आकाश मण्डल को, दशों दिशाओं को भर देना चाहता था।

अपने लाल को, अपने हृदय के टुकडे को, अपनी आँखों के तारे को, अपने सबसे प्यारे दुलारे पुत्र को इस प्रकार रुदन करते हुए आते देखकर माता का हृदय धक् से हो गया। जैसे हाल

की ब्याई गौ जङ्गल से आकर दौड़कर अपने वत्स से मिलती है, उसी प्रकार शीघ्र से दौड़कर माता ने लाल को लपककर उठा लिया। उसे गोद में बिठाकर, अंचल से उसके आसुओं को पोंछकर वार-वार मुख चूमकर, अत्यन्त ही स्नेह से माँ बोली—"वेटा! तेरा किसने तिरस्कार किया है? इस राज्य में ऐसा किसका साहस है जो तेरा अपमान करे? तू तो सम्राट् का पुत्र है। चक्रवर्ती का कुमार है, तेरी ओर उँगली उठाने का साहस किसका हो सकता है? तू अपने दुःख का कारण मुझे बता दे।"

स्नेहमयी माँ की गोदी पाकर बच्चे का हृदय और भी उमड़ने लगा। वह फूट-फूटकर और जोरों से रोने लगा। रोते-रोते उसकी चिकियाँ वँध गईं, एक भी शब्द उसके मुख से नहीं निकला। माँ उससे वार-बार पूछती, उसे बार-बार पुचकारती वार-वार छाती से चिपकाती। क्षण-क्षण में आँचल से आँसू पोंछती, किन्तु ध्रुव और भी अधिक इन वातों से रोते। वे एक शब्द भी कहने को समर्थ न हुए।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! अपने बच्चे की ऐसी दशा देखकर माता भी रोने लगी। माता के रुदन से सम्पूर्ण प्रकृति रोती-सी दिखाई देती थी।"

छप्पय

बालक तें यों विहँसि विमाता बोली बानी।
बेटा! व्यर्थ विषाद करे तू अति अज्ञानी॥
यद्यपि राजा तनय किन्तु मम कोखि न जायो।
तू सुनिती के गर्भ माहिँ किहि अघ तें आयो॥
अब तप करि मम उदर तें, लेहि जन्म सम्भव जबहिँ।
उत्तम सम नृप अङ्क महँ, बैठि सकेगो तू तबहिँ॥

ध्रुवजी के लिये माता का उपदेश

[२२०]

आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्व—
मुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम् ।
आराधयाधोक्षजपादपद्मम्,
यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० ११ श्लोक)

छप्पय

सुनत विमाता वचन क्रोध ध्रुव कूँ अति आयो ।
फरके दोनों ओठ रोष सब तन महँ छायो ॥
खिसियानों फिरि रोइ मातु ढिँग चल्यो रिस्यानों ।
मारचो बालक सर्प दण्ड तें मणिधर मानों ॥
रुदन करत निज सुत लख्यो, दौरि गोद माता लयो ।
सुत मुख में निज मुख धर्‌यो, चूम्यो फिर धीरज दयो ॥

मातृ हृदय बनाते समय ब्रह्माजी ने पता नहीं किस मसाले का प्रयोग किया था, ज्ञात नहीं किस वस्तु का बीच-बीच में

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—विदुरजी ! पुत्र के रुदन का कारण सुनकर माता कहने लगी—"बेटा ! तेरी सौतेली माता ने सत्य ही बात कही है। यदि तू उत्तम के समान राजसिंहासन पर बैठना चाहता है तो ईर्ष्या द्वेष छोड़कर उसके वचनों का पालन कर—अधोक्षज भगवान् के चरण कमलों की उपासना कर।"

सम्पुट लगाकर उसे बनाया था। उसमें पुत्र के लिये कितना ममत्व, कितना वात्सल्य, कितनी शुभ कांक्षायें, कितनी सहनशीलता, कितना त्याग, कितना अनुराग भर दिया था—यह कहा नहीं जा सकता। अपने प्यारे पुत्र को देखकर माता का हृदय स्वय ही उसी प्रकार द्रवीभूत होने लग जाता है, जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत हो जाती है। माता अपने पुत्र के लिये दुःख सह सकती है, उसके सुख के लिये कठिन से कठिन, दुष्कर से दुष्कर काज कर सकती है, भारी से भारी आपत्तियों को झेल सकती है। अपने को दुखी बनाकर उसको सुख पहुँचाने में उसे आत्मतोष होता है, आनन्द आता है। अपने तनय के लिये सब कुछ सहने की शक्ति होने पर भी वह उसके अपमान को देखकर क्षुभित हो जाती है। उसे सहन करने की शक्ति उसमे नहीं है। इससेउसका हृदय फटने लगता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महारानी सुनीति देवी बड़ी विदुषी थी। वह संसार की गति विधि सब समझती थी, इसीलिये उसने अपने पुत्र पर यह कभी भी प्रकट नहीं होने दिया, कि वह राजा की परित्यक्ता पत्नी है। उसका हृदय सदा रोता रहता था, किन्तु पुत्र के सम्मुख उसने कभी दुःख के आँसू नहीं बहाये। उसका चित्त सदा विषादयुक्त बना रहता था, किन्तु मुख पर उसने कभी विषाद की एक रेखा भी प्रकट नहीं होने दी। वह अपने पुत्र को सुखी करने को सदा हँसती रहती। उसे राजोचित ठाठ-बाट से रखती। उसकी परिचारिकाएँ रानी के प्यारे पुत्र को सदा प्राणों से भी अधिक प्यार करतीं। उसे कभी रोने नहीं देतीं। आज सहसा अपने बाह्यप्राण रूपी प्रिय पुत्र को बुरी तरह से रोते देखकर माता का हृदय धक्-से हो गया। वे गोद में बिठाकर बालक के आँसुओं को बार-बार पोंछतीं। बच्चा जितना ही माँ का प्रेम पाता, जितना ही

उनके अंग का सुखद स्पर्श करता, उतना ही उसका हृदय भर आता। माता ने उसे कसकर हृदय से चिपका लिया। उसके एक कपोल में अपना कपोल चिपकाकर दूसरे हाथ की दो उँगलियों से उसके दूसरे कपोल को दबाकर वह बार-बार पूछती—"अरे ध्रुव! तू तो बड़ा राजाबेटा है। अपनी माँ को बता दे बात क्या है? किसने तेरा अपमान किया? तेरे बाप से कहकर मैं अभी उसे पिटवाऊँगी। तू ऐसे वैसे का बेटा थोड़े ही है, चक्रवर्ती का कुमार है।" इस बात को सुनकर बच्चे का रहा सहा भी धैर्य जाता रहा, वह और भी फूट-फूटकर सुसकियाँ भरते हुए माता के आँचल से मुँह ढँककर रोने लगा। माता का अंचल गीला हो गया। वह कुछ समझ न सकी बात क्या है। मेरा बच्चा आज क्यों ऐसा अधीर हो गया है।

तब उसने पास में खड़ी हुई स्त्रियों से बच्चों से पूछा—"मेरा बच्चा किसी से लड़ाई झगड़ा तो कभी करता नहीं। किसने इसे दुःख दिया है?"

पास में ही एक बूढ़ी सी धाय खड़ी थी, उसने इधर-उधर चारों ओर देखकर धीरे धीरे आँसू बहाते हुए कहा—"महारानी जी! क्या बताऊँ? यह स्त्री का जन्म किसी पाप ही का फल है, सदा दूसरों के मुँह की ओर जोहते रहना, फिर उसमें सौत वाली स्त्री का जीवन तो जीवन ही नहीं, वह तो विडम्बना है। बच्चा बड़े प्यार से अपने पिता की गोद में चढ़ना चाहता था। किन्तु छोटी महारानी ने महाराज से मनाकर दिया। इच्छा रहने पर भी महाराज इस फूल से बच्चे को गोद में न ले सके। इतने पर भी छोटी रानी ने ऐसे-ऐसे कठोर वचन कहे कि बच्चे का हृदय बैठ गया।"

धैर्य धारण करके माँ सुनीति ने पूछा—"क्या कहा था मेरे पति की प्राणप्रिया ने?"

दासी ने आँसू पोंछते हुए कहा—"महारानी जी ! इन बातों को आप न पूछें, एक बात हो तो बताऊँ ऐसी ऐसी ईर्ष्या भरी बातें कहीं जो विष बुझे बाणों से भी अधिक घाव करने वाली थीं। कहा—"तू राजा की गोद में बैठ नहीं सकता। तू अन्य स्त्री के गर्भ से पैदा हुआ है। तप करके मरकर फिर मेरे उदर से जन्म ले तब तो इस सिंहासन पर बैठ सकता है। इसी तरह की और भी बहुत सी बातें कहीं।"

इन बातों को सुनकर आज माता के हृदय का बाँध टूट पड़ा। जिन आँसुओं को बड़े यत्न से अब तक बाँध बाँधकर हृदय में रोक रक्खा था, वह बाँध अपने आप बड़े वेग से फट गया। माँ की दोनों आँखें बहने लगीं। उसने और कसकर अपने प्यारे-दुलारे बच्चे को हृदय से चिपकाया। उसके स्तनों से दो दूध की धाराएँ निकल रही थीं, नेत्रों से अश्रुप्रवाह बह रहे थे, नाक के दोनों नथुनों से लम्बी लम्बी उष्ण साँसें निकल रही थीं। मानों आज प्रयागराज में त्रिवेणी ने दो रूप धारण कर लिये हों और वैणीकुण्ड को सुखाने के लिये प्रलयानल का धूम निकल रहा हो। माँ ने अपने अश्रुओं से बच्चे की काली काली अलकावलियों को भिगो दिया। माँ को इस प्रकार रोते देखकर अब बच्चे को चेत हुआ। क्षत्रिय का बालक था। उसने हृदय को कड़ा किया। माँ के अंचल से आँसुओं को पोंछ डाला और अपना मुँह उठा कर उसने माँ को रोते देखकर कहा—"माँ तू तो ऐसी कभी नहीं रोती थी आज तू इस बात को सुनकर क्यों रो रही है ? सचसच बता दे, मेरे पिता ने मुझे गोद में क्यों नहीं लिया ? क्या तू राजरानी नहीं है ?"

रोते रोते माँ ने कहा—"बेटा ! मैं कहाँ राजरानी हूँ। राजा की प्रधान पटमहिषी होने पर भी आज मैं दासियों से भी गयी-

बीती हूँ। राजा मुझे अपनी रानी कहना तो अलग रहा अपनी दासी कहने में भी लजाते हैं ?"

ध्रुव ने पूछा—"तो क्या माँ मैं राजपुत्र नहीं हूँ ? मेरा कौन-सा अपराध है जो पिता ने मुझे गोदी में नहीं लिया।"

माता ने रोते-रोते कहा—"बेटा ! तू राजपुत्र ही नहीं राज्य का अधिकारी बड़ा कुमार युवराज है। राज्य पर तेरा जन्मतः अधिकार है किन्तु तेरा यही एक अपराध है, कि मुझ दुर्भागिनी, भाग्यहीना पापिनी के पेट से तू पैदा हुआ है। मेरे ही पाप के कारण तेरा ऐसा तिरस्कार हुआ है।"

क्षत्रिय बालक के अधर फरकने लगे उसने रोष के स्वर में कहा—"जननी ! मेरी विमाता ने जो तुम्हारे लिये ऐसी कड़ी-कड़ी बातें कही हैं। तुम्हें बुरी तरह से धिक्कारा है। तुम्हारा घोर अपमान किया है, इसे मैं किसी भी भाँति सहन नहीं कर सकता। मुझे वे बुरा भला कहतीं तो मैं सह लेता। अपनी वन्दनीया माता के तिरस्कार को मैं कभी सहन नहीं कर सकता।"

इतना सुनते ही माँ की आँखों से स्नेह दुःख मिश्रित अश्रु झर-झर झरने लगे। वे मुरझाई हुई लता के समान अबला गौ के समान अत्यन्त व्याकुल हो गयीं फिर बच्चे को शान्त करने की इच्छा से कहने लगीं—"ना, बेटा ! किसी का अनिष्ट नहीं सोचते हैं। मन से भी किसी को दुःख देने की बात सोचना महापाप है। हम यदि किसी को दुःख देंगे तो हमें दुःख भोगना पड़ेगा। दुख सुख को प्रारब्ध का भोग समझकर सहन करना चाहिये। सुरुचि ने जो हमें भाग्यहीना मन्दभागिनी कहा है, वह झूठ थोड़े ही है। सत्य ही है। मुझसे अधिक भाग्यहीन स्त्री कौन होगी, जिसे उसके सगे पति दासी कहने में भी लजाते हैं। यह मेरे हीन भाग्य पराकाष्ठा ही है कि सर्वगुणसम्पन्न तुम जैसे प्यारे बच्चे को जिसे गोद में लेने को देवता भी लालायित होते हैं, उसे अपना

पिता गोदी में लेने से भी डरता हो। बेटा ! यदि मैंने मेरी कोख से जन्म न लिया होता, मुझ अभागिनी के दूध को पीकर तू न बढ़ा होता तो क्या आज तेरा इस प्रकार अपमान होता ? क्या तू इस प्रकार ठुकराया जाता ? तात ! मेरे दुःख का वारापार नहीं। आज तक मैं तुमसे छिपाये रही, कि तुझे दुःख न हो, किन्तु आज मैं अपनी पीडा को छिपाने में असमर्थ हूँ।"

ध्रुव ने आँसू पोंछते हुए कहा—"माँ ! पिता ने तो मुझसे एक शब्द भी नहीं कहा। मेरी सौतेली माँ ने ही मुझे अपने वाग्बाणों से घायल कर दिया। उसी के वचन मेरे हृदय में आर-पार हो गये हैं।"

माँ ने अत्यंत स्नेह से बच्चे के मुँह को अपने मुँह से सटाकर कहा—"ना बेटा ! ऐसी बात मुँह से नहीं निकालते हैं। कोई किसी को दुःख सुख नहीं दे सकता। सभी अपने पूर्वजन्म के किये हुए दुख सुखों को भोगते हैं। फिर तेरी छोटी माँ ने कोई अनुचित बात तो कही नहीं। उसने यथार्थ ही बात कही। यदि तू भी उत्तम के समान राजसिंहासन पर बैठना चाहता है, तो उन अशरणशरण श्रीहरि के चरणों का चिन्तन कर उन्हीं की आराधना से जीव जो चाहे, वही प्राप्त कर सकता है। यह राजसिंहासन तो बात ही क्या तू और भी ऊँचे से ऊँचा पद उन्हें प्रसन्न करके पा सकता है।"

ध्रुव ने कहा—"माँ ! किसी ने आज तक उनकी आराधना करके उच्च पद प्राप्त किया है क्या ?"

माँ ने प्यार से कहा—"अरे बच्चा ! किसी ने क्या, सभी उन्हा की कृपा से पद प्राप्त करते हैं। उनका आराधना के बिना कोई भी उत्तम पद को नहीं पा सकता। ब्रह्माजी ने ब्रह्मत्व, इन्द्र ने इन्द्रत्व, वरुण ने वरुणत्व, कुबेर ने कुबेरपन, देवताओं ने देवत्व, ऋषियों ने ऋषित्व, तथा मनुओं ने मनुत्व उन्हीं की आरा-

घना से प्राप्त किया है, तेरे पिता के भी पिता जो मनु हुए हैं उन्हीं की आराधना द्वारा हुए हैं। उन्होंने अनेकों दक्षिणा वाले, उन्हीं के निमित्त बड़े बड़े यज्ञ किये थे और लोगों को जिसे प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है, ऐसा पृथ्वी का सुख, स्वर्ग का सुख तथा मोक्ष सम्बन्धी सुख भी उन्होंने हरिस्मरण से ही प्राप्त किया था।"

ध्रुव ने कहा—"तब माँ! मुझे क्या करना चाहिये?" माँ ने प्यार से कहा—"बेटा! करना क्या चाहिये? उन्हीं मुमुक्षुओं के अनन्यशरण, सबके स्वामी लक्ष्मीपति भक्तवत्सल भगवान् की शरण में जा। उन्हीं की शरण मे जाने से तेरे सभी दुःख दूर हो सकते हैं, उन्हीं की प्रसन्नता प्राप्त होने पर तेरी समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण हो सकती है।"

ध्रुव ने कहा—"माँ! भगवान् को तो मैंने देखे नहीं। किसी और का शरण में जाने से मेरे दुःख दूर नहीं हो सकते क्या? यदि ऐसा कोई भगवान् के अतिरिक्त हो तो मैं उसी के पास चला जाऊँ।"

रोते-रोते माता बोली—"बेटा! और मैं किसे बताऊँ? ससार में सभी तो कगाल हैं। आप्तकाम सन्त महात्माओं को छोडकर ऐसा एक भी नहीं जो विषयों से सन्तुष्ट हो, जिसे और अधिक सुख पाने की तृष्णा न हो। जिसकी जितनी ही बढ़ी हुई तृष्णा है वह उतना ही बड़ा दरिद्री है। भूखे को एक मुट्ठी अन्न की तृष्णा है। लखपती को करोड़पति होने की व्यग्रता है। करोड़पति अरबपति होना चाहता है। जो स्वयं ही दुखी है, उसके सम्मुख हाथ फेलाना व्यर्थ है।"

ध्रुव ने पूछा—"माँ! ये सम्राट् चक्रवर्ती तो सुखी होगे?"

माता ने कहा—"अरे बेटा! ये तो दूर के ढोल सुहावने लगते हैं। देख मैं तुझे एक कहानी सुनाती हूँ। किसी कंगाल की एक सम्राट् से मैत्री हो गयी। सम्राट् ने कहा—"जब भी तुम्हें किसी

बात को कष्ट हो मेरे पास आ जाना मैं तुझे जो माँगोगे वही दूँगा।"

कालान्तर में कंगाल की कन्या के विवाह का समय आया, उसे सम्राट् की बात याद आयी। वह द्रव्य माँगने सम्राट् के समीप गया। सम्राट् यज्ञशाला में थे। जब यज्ञ उपासना करके लौटें, तो उन्होंने कंगाल को पहिचान कर उसका सत्कार किया और आने का कारण पूछा।

कंगाल सरल था। छल-कपट नहीं जानता था। ऐसे सरलों पर ही भगवान् स्वतः रीझ जाते हैं। मायावी लोगों से वे दूर ही रहते हैं। कंगाल ने पूछा—"आप अब तक क्या कर रहे थे ?"

सम्राट् ने कहा—"मैं यज्ञ कर रहा था। भगवान् की उपासना कर रहा था। उनसे धन-धान्य, पशु, पुत्रों की वृद्धि की याचना कर रहा था। मेरे मित्र बढ़ें, शत्रुओं का नाश हो, यह प्रार्थना कर रहा था। धन, आरोग्य वशवृद्धि की भीख माँग रहा था।"

इतना सुनते ही कंगाल अपनी लाठी उठाकर चलने लगा। सम्राट् ने पूछा—"क्यों! चल क्यों दिये ?"

कंगाल ने कहा—"मैं कुछ माँगने आया था। जब मैंने देखा, तुम स्वयं ही किसी से माँग रहे हो, तो फिर माँगने वाले से क्या माँगना। हम तो अब उसी से माँगेंगे जो तुम्हें भी देता है, जिसके सम्मुख तुम भी पल्ला पसारकर दीनता के वचन कहते हो।" इतना कहते-कहते कंगाल बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही चला गया।"

मैत्रेयमुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार ध्रुव की विदुषी माता और भी अनेकों प्रकार से अपने प्यारे पुत्र से भगवान् की दयालुता का वर्णन करने लगीं। वे तो भगवद्भक्त थीं, उन्हें भगवान् के अतिरिक्त और किसी पर भरोसा नहीं था, अतः

अनेक युक्तियों से आख्यान सुनाती हुई ध्रुव की निष्ठा कराने लगीं।"

छप्पय

बोली—"बेटा! बात बतादे क्यौं तू रोवै?
क्यौं निकासिकें नीर नयनको काजर धोवै?
पुनि पुनि पूछें मातु बात कछु नाहिँ बताई।
तब पुरवासिनि कथा आदितें अन्त सुनाई॥
सुनि सुनीति सब सौतकी, सुत सम्बन्धी दुख कथा।
झुरसि अनलतें ज्यौं लता, गिरे भई त्यों हिय व्यथा॥

—:—:—

माता के उपदेश से ध्रुवजी का वनगमन

[२२१]

नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनात्,
दुःखच्छिद ते मृगयामि कञ्चन ।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया,
श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० २३ श्लोक)

छप्पय

सुत समझायो मातु कृष्ण दुख दूरि करिंगे ।
वे अनाथके नाथ शोक सन्ताप हरिंगे ॥
कमलनयन बिनु नाहिं तापत्रय हरिवैवारो ।
दीनबन्धु बिनु वत्स ! हमारो कौन सहारो ॥
जो समृद्धि सुख, परम पद, चाहो तो हरिपद गहहु ।
रटि रसना हरि रूप दृग, सुमिरि चरित मधुवन बसहु ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ध्रुव की माता सुनीति अपने प्यारे पुत्र को समझाती हुई कहती है—' बेटा ! मुझे तो उन पद्मपलाशलोचन श्रीहरि के अतिरिक्त तेरे दुख को दूर करने वाला दूसरा कोई दिखायी देता नहीं। जिस लक्ष्मी को ब्रह्मादिक देवता ढूँढते रहते हैं, वह लक्ष्मीजी भी जिन्हें हाथ में कमल लेकर खोजती फिरती हैं, उनसे श्रेष्ठ और कौन होगा।'

संसारी लोग संसारी भोगों को ही सब कुछ समझते हैं, उसे ही प्राप्त करने का उपदेश देते हैं, संसारी लोगों की ही शरण में जाने को कहते हैं, किन्तु जिन्होंने इस संसार को असार समझ लिया है, कि ये सभी संसारी लोग स्वयं कृपण हैं, दरिद्र हैं, ये किसी को क्या दे सकते हैं, वे इन सबकी आशा छोड़कर अखिलेश की ही शरण मे जाते हैं, उन्हें ही अपने दुःखो के विनाश का एक आधार समझते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! माता के करुणापूर्ण हृदय से निकले हुए उपदेश का ध्रुवजी के हृदय पर बडा प्रभाव पड़ा। जब माता ने भी भगवान् की ही आराधना ही करने का उपदेश दिया, तब तो उन्होंने धैर्य धारण किया। विदुरजी! एक ही बात को जब कोई प्रेम से कहता है, तब उसका और प्रभाव पडता है; उसी बात को कोई ईर्ष्या द्वेष से कहता है उसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। ध्रुवजी की विमाता ने भी यही बात कही थी, कि तपस्या करके तू उत्तम आसन को प्राप्त कर सकता है, किन्तु उसने कही थी व्यंग से तिरस्कार पूर्वक। ध्रुव को तथा ध्रुव की जननी को नीचा दिखाने उनको भाग्यहीन जताने के निमित्त, इसीलिये वह ध्रुवजी के हृदय मे चुभ गयी। इसी बात को अनन्यशरण होकर अपना और कोई आश्रय न देखकर माता ने कही, इससे ध्रुवजी को शान्ति मिली उन्होंने माता से कहा—"माँ! तुम कह रही हो, भगवान् की ही शरण में जाने से मेरे दुःख दूर होंगे। उन भगवान् की क्या महिमा है ?"

रोते-रोते माँ बोली—"बेटा! उनकी महिमा का वर्णन करना वाणी का विषय नहीं। मैं क्या चतुर्मुख ब्रह्म सहस्रमुख शेषजी भी उनकी महिमा का अन्त नहीं पा सके। फिर उनकी महिमा मैं मूढमति वाली अबला कैसे कह सकती हूँ। वेद भी उनकी महिमा का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं कर सकते, तू इतने से ही समझ

लें। संसार में श्री लक्ष्मीजी सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं। ब्रह्मादिक बड़े बड़े देवता, जिन लक्ष्मीजी के तनिक से कृपा-कटाक्ष के लिये तरसते रहते हैं। हजारों-लाखों वर्ष इसी निमित्त तप करते हैं कि भगवती कमला एक बार हमारी ओर देख भर लें। ऐसी महा-महिमा वाली, जगद्वन्द्या लक्ष्मीजी भी जिन्हें कमल हाथ में लिये ढूँढ़ती रहती हैं, वह भी जिनके चरणों की धूलि के लिये सदा लालायित बनी रहती हैं उन लक्ष्मीकान्त की महत्ता का वर्णन करने की सामर्थ्य किसमें है ?"

माता की ऐसी बात सुनकर ध्रुवजी ने अपने हृदय को दृढ़ किया और बोले—"माँ! अब मैं उन्हीं अशरणशरण की शरण जाऊँगा। अब मुझे जो कुछ माँगना होगा उन्हीं से माँगूगा। अब तू मुझे हृदय से आशीर्वाद दे, कि मैं उन सर्वान्तर्यामी प्रभु को प्रसन्न कर सकूँ। उनका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त कर सकूँ।"

अब तो माँ का हृदय पसीजने लगा। उस समय तो करुणा के आवेश में कह गयीं, किन्तु जब ध्रुव वन जाने को तैयार ही हो गये, तब तो उनका हृदय फटने लगा और स्नेहपूर्वक बोलीं—"बेटा! तू अभी बच्चा है। वन में बड़े-बड़े कष्ट हैं, तुझे अभी दुःख सहने का अभ्यास नहीं, कभी घर से बाहर निकला नहीं, तू अरण्यों के कष्टों को किस प्रकार सह सकेगा ?"

ध्रुव ने कहा—"माँ! तैंने ही तो बताया था, भगवान् सबकी सर्वत्र सब प्रकार से रक्षा करते हैं। क्या वे अरण्य में नहीं हैं ? क्या जो मेरी यहाँ रक्षा करते हैं वे वहाँ न करेंगे ? अब मैं किसी प्रकार मान नहीं सकता। मैं अब घोर तपस्या करके उन वरदानियों में श्रेष्ठ विष्णु को प्रसन्न करके ही लौटूँगा। अब तू मुझे प्रसन्नता से वन जाने की अनुमति दे दे।"

माँ अब क्या कहतीं। रोते-रोते उन्होंने अपने लाल का स्वस्त्ययन किया। आँसू बहाते-बहाते बार-बार उसने वत्स के

मुँह को चूमा। गोद में लेकर सिर सूँघकर भर्राये हुए कंठ से वह बोली—"बेटा! वे सर्वान्तर्यामी प्रभु तेरी सर्वत्र रक्षा करें। वन के देवता और देवियाँ तेरे ऊपर वात्सल्य स्नेह प्रकट करें। भगवान् भुवनभास्कर तेरे लिये शीतल किरणों वाले हों, भगवान् निशानाथ अपनी अमृतमयी किरणों से तेरा सर्वदा सिंचन करें। भूदेवी तेरे लिये सुकोमल हो जायँ, बेटा! मैं उन्हीं सर्वान्तर्यामी प्रभु की गोद में तुझे सौंपती हूँ जो चींटी से लेकर हाथी तक सभी जीवों का योगक्षेम चलाते हैं। वत्स! जाओ तप में मन लगाओ। आहार निद्रा को जीत लेना। प्रमाद को कभी पास भी न फटकने देना। आलस्य को दूर से ही भगा देना। एकाग्र होकर सावधानी से सचेष्ट होकर उन सर्वान्तर्यामी के ध्यान में लीन हो जाओ। वे अवश्य ही शीघ्र से शीघ्र तेरे ऊपर कृपा करेंगे। तेरे लिये अवतार धारण करेंगे, तुझे दर्शन देंगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार विविध प्रकार से अपने पुत्र को आशीर्वाद देकर माता ने विदा किया। ध्रुवजी ने घर में ही सभी वस्त्रों को त्याग दिया। केवल एक कोपीन लगाकर वे राजा के नगर से निकल पड़े। समस्त प्रजा पाँच वर्ष के बालक के साहस को देखकर चकित रह गयी कि चक्रवर्ती का अबोध कुमार आज सर्वस्व त्यागकर इस अवस्था में तप करने जा रहा है।

लोगों ने जाकर महाराज को भी यह समाचार सुनाया। महाराज के हृदय में तो वात्सल्य स्नेह भरा ही हुआ था। उन्होंने शीघ्रता से अपने मन्त्री को भेजा—"ध्रुव से कहो हम उसे कुछ गाँव दे देंगे, वह लौट आवे।"

मन्त्री ने जाकर पिता का समाचार सुनाया। ध्रुव ने कहा—"अब तो मैं उन्हीं से माँगूगा जो सबको देते हैं।" इतना कहकर ध्रुव चल दिये। फिर राजा का सदेश आया १० गाँव देंगे फिर

२०।५०।१०० आधा राज्य देने को कहा, किन्तु ध्रुव ने सब बात को अनसुनी कर दी। वे आगे चलते ही गये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पाँच वर्ष के बच्चे वा बड़ा साहस था, कि सहसा घर से निकल पड़ा। नहीं तो पाँच वर्ष के बच्चे तो माता की गोदी को छोड़कर कहीं जाते भी नहीं।"

सूतजी बोले—"महाभाग! यह जीव बड़ा अविश्वासी है। भगवान् तो निस्सीम हैं, सर्वव्यापक हैं, अन्तर्यामी हैं। जीव जहाँ भी चला जाय प्रारब्ध कर्म तो साथ रहते हैं। अविश्वास के ही कारण जीव सीमित बन जाता है, अपने को ही कर्ता समझने लगता है। व्यर्थ की चिन्ता करता है, कि यदि मैंने ऐसा किया, तो खाने को कहाँ से आवेगा, वहाँ मेरी रक्षा कौन करेगा? सहस्रों हाथ नीचे जल के भीतर रहने वाले जीवों को खाने को कौन देने जाता है? हमने ऐसा सुना है, कि आकाश में बहुत ऊँचे एक पक्षी रहता है। यह कभी पृथ्वी पर नहीं आता आकाश में ही उड़ता रहता है। उड़ते-उडते ही ऊपर से यह अंडा देता है। अंडा नीचे आता है। पृथ्वी के समीप आते ही वह अंडा फूट जाता है। उसमें से बच्चा, निकलकर ऊपर को उड़ने लगता है, वह पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता। उडते-उड़ते वह अपने माता पिता के पास पहुँच जाता है। उन सबको खाने को कौन देता है? भगवन्! देखिये, हम जिस वाटिका को लगाते हैं, उसकी हमें कितनी चिन्ता रहती है। वह वृक्ष कुम्हिला गया है उसमें पानी देना चाहिये। उस वृक्ष के फल छोटे होने लगे हैं, उसमें खाद दो। जब हम साधारण लोगों को अपनी वाटिका की इतनी चिन्ता है, तो जिन्होंने यह इतना बड़ा ब्रह्माण्ड रूपी उद्यान अपने खेलने के लिये रचा है, उन्हें इसकी चिन्ता न होगी क्या?"

शौनकजी बोले—"सूतजी! यह तो आपका कहना सत्य

है, किन्तु हम कोई साधारण संसारी काम करना चाहते हैं, तो उसी के लिये पहिले उपकरण जुटाते हैं। उसकी शिक्षा प्राप्त करते हैं। तब उस कार्य में प्रवृत्त होते हैं। ध्रुवजी ने किसी को गुरु नहीं बनाया, मन्त्रदीक्षा नहीं ली, फिर उपासना को कैसे निकल पड़े ?"

इस पर सूतजी बोले—"मुनियो ! गुरुतत्व सर्वव्यापक है। जो भगवान् को प्राप्त करादे वही गुरु है। भगवान् को भगवन्त के अतिरिक्त कोई दूसरा प्राप्त करा ही नहीं सकता, अतः गुरु भगवान् के ही स्वरूप हैं, गुरु में और भगवान् में शास्त्रकारों ने अभेद बताया है। शिष्य से अधिक गुरु अपनाने के लिये उत्सुक रहते हैं, जहाँ हमें दीक्षा का अधिकार प्राप्त हो गया, जहाँ साधना के प्रति हमारे हृदय में दृढता आ गयी, वहाँ फिर गुरु खोजना नहीं पड़ता। गुरु स्वयं ही आकर उसे अपना लेते हैं और दीक्षा देकर उसे मुक्ति के मार्ग पर पहुँचा देते हैं, भगवान् का साक्षात्कार करा देते हैं। अतः सबसे अधिक आवश्यकता दृढता की है। ध्रुवजी में दृढता आ चुकी थी, अब उन्हें किस बात का अभाव रह सकता था। जीव तभी तक कृपण बना रहता है, जब तक वह भगवान् की ओर बढ़ता नहीं। जहाँ उसने एक पैर बढ़ाया कि भगवान् ९९ पैर बढ़ाकर उसे अपना लेते हैं। हम विषयों को छोड़ना नहीं चाहते काम को पकड़े ऊपरी मन से राम को चाहते हैं, जहाँ काम है वहाँ राम कहाँ ? जिस समय हम कामों को छोड़ कर राम की ओर दौड़ते हैं तो राम तो मिल ही जाते हैं। काम की भी कमी नहीं रहती। यही हुआ, ध्रुवजी ज्यों ही घर से निकले कि उन्हें मुमुक्षुओं के एकमात्र सद्गुरु श्री नारदजी के दर्शन हो गये।"

छप्पय

सुनी मातुकी बात पुत्र सुनि धीरज धार्यो ।
ऊँच नीच सब सोचि फेरि कर्तव्य बिचार्यो ॥
जननीतें ध्रुव कहैं मातु ! अब आज्ञा दीजे ।
पथ मंगलमय होहि कृत्य अब सोई कीजे ॥
माँ इकलौते तनयकूँ, हिय लगाय आशिष दई ।
पितु पुरतैं ध्रुव चलि दये, फैल बात घर घर गई ॥

ध्रुवजी को नारदजी के दर्शन

[२२२]

नारदस्तदुपाकर्ण्य ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम् ।
स्पृष्ट्वा मूर्धन्यघघ्नेन पाणिना प्राह विस्मितः ।।
नाधुनाप्यवमानं ते सम्मानं वापि पुत्रक ।
लक्षयामः कुमारस्य सक्तस्य क्रीडयादिषु ।।❀

(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० २५, २७ श्लोक)

छप्पय

दये प्रलोभन बहुत न ध्रुव फिरि घरकूँ बगदे ।
दुख बन पथके सोचि करी नहिं शका हिरदे ।।
ज्यों ही आगे बढ़े मिले मुनि नारद ज्ञानी ।
जग उपकार देव बात ध्रुव मन की जानी ।
अघहर कर सिरपै धर्यो, बोले बेटा ! बाल तू ।
अरे, मान अपमान का ? क्रीड़ासक्त कुमार तू ।।

जीव प्रारब्धवश जन्म ग्रहण करके दुःख सुख भोगता है। जब तक प्रारब्ध और सचित कर्मों का क्षय नहीं होता, नूतन

❀ मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी ! ध्रुवजी जो करना चाहते हैं उनकी उस इच्छा को जानकर तथा ध्रुवजी का समाचार सुनकर नारदजी रास्ते में उसके समीप आये और अघहारी करकमल उसके सिर पर फेरते हुए विस्मित होकर उससे बोले—' बेटा ! अभी तेरा मान अपमान क्या ? हम तो ऐसा समझते हैं कि अभी तू बच्चा है खेलने खाने की तेरी अवस्था है ।'

क्रियमाण कर्म समाप्त नहीं होता, तब तक जीव का आवागमन समाप्त नहीं होता। कुछ स्वच्छन्द कर्म जीव भी होते हैं, वे प्रारब्धवश जन्म नहीं लेते। उनका जन्म प्रारब्ध भोग के लिये नहीं होता, वे जीवों पर कृपा करने संसार को व्यवस्थिति बनाये रखने को जन्म लेते हैं। वे भगवान् के अंशावतार ही होते हैं, युग-युग में वे अवतार ग्रहण करते हैं। उनमें से बहुतों की आयु एककल्प की (अर्थात् जितने समय में चारों युगों की हजार चौकड़ियाँ बीतती हैं उतनी बड़ी आयु) होती है। बहुतों की ब्रह्माजी की आयु के बराबर और बहुत से ऐसे होते हैं कि जिनके सामने हजार ब्रह्मा बदल जाते हैं। इनमें जीवत्व इतने ही अंश में हैं, कि वे स्वेच्छा से रूप धारण करते हैं और जीवों के दुःख को देखकर उनका हृदय पिघलता है और ज्ञानादिक गुणों की अपेक्षा दया का अंश उनमें विशेष होता है। शेष सभी भगवान् के दिव्यगुण उनमें विद्यमान रहते हैं। भगवान् नारद ऐसे ही हैं। इनकी गणना २४ अवतारों में भी है। शरीर इनका देवताओं का है, वैसे ऋषि हैं, इसीलिये ये देवर्षि कहाते हैं। चौदहों भुवनों में इनकी अव्याहत गति है। मनके वेग के समान ये जहाँ चाहें वहीं पलक मारते पहुँच सकते हैं। जैसे हमने सोचा—हम ब्रह्मलोक में पहुँचे, झटसे मनसे ब्रह्मलोक पहुँच गये। यही दशा तूमड़िया बाबा की है। ये सर्वगुण सम्पन्न ज्ञानियों के भी गुरु हैं, भक्तिशास्त्र के भी आचार्य, संगीतविद्या में भी पारगत हैं और प्रचारकों के तो शिरोमणि ही ठहरे। देवता, असुर, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्यों तथा सभी प्राणियों द्वारा ये पूजित हैं, सभी इनका सम्मान करते हैं। शिष्य बनाने को ये बड़े लालायित रहते हैं। किसी के मन में भी ज्ञान का अंकुर देखते हैं, भक्ति की जिज्ञासा पाते हैं, उसी के सम्मुख अनेक रूप रखकर प्रकट हो जाते हैं और उसे जैसे होता है, वैसे भगवान्

से मिला देते हैं। असुरों को उल्टी पट्टी पढा देते हैं, जिससे वे भगवान् से वेर करें, भगवान् उन्हें स्वयं मारने आवें उनके द्वारा मरकर मुक्त हो जायँ, ज्ञानियों को ज्ञान सिखाते हैं, भक्तों को भक्तिमार्ग की शिक्षा देते है। लोग तो इन्हें कलह प्रिय कहते हैं, किन्तु इनकी कलह में सदा परोपकार छिपा रहता है, प्राणियों का जिस बात से हित हो वैसी कलह कराकर विश्व का कल्याण कराते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुर जी! ध्रुवजी जब घर से निकल पड़े थे तो ब्रह्मलोक में ध्यान से नारदजी को पता चला, कि एक चेला बनाने योग्य राजा का लडका घर से निकला है। वे शीघ्रता से वहाँ से दौड़े। ध्रुव जी अब तक नगर की सीमा को पार भी नहीं कर सके, तभी तक वीणा बजाते राम-कृष्ण गुन गाते नारद जी ने ध्रुव का रास्ता रोक लिया और हँसते हुए बोले—"कहिये कुमारजी! कहाँ चले?"

अपने सम्मुख जटा बखेरे, वीणा बजाते, हरिगुन गाते अत्यन्त सुन्दर महान् तेजस्वी पीतवसनधारी एक ऋषि प्रसादाभिमुख देखकर ध्रुवजी ने हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। माताजी के मुख से भगवान् नारद जी के जैसे स्वरूप का उसने वर्णन सुना था उसे ही याद करके ध्रुवजी समझ गये, ये कृपा के सागर जीवों के उद्धारक, चौदहों भुवनों में स्वच्छन्द विचरण करने वाले भगवान् नारद जी हैं। दौडकर बच्चा देवर्षि के पैरों पर पड़ गया।

ध्रुवजी राजा के पुत्र ही ठहरे, सौन्दर्य की साकार मूर्ति ही थे। ५ वर्ष की अवस्था, सुन्दर गौर वर्ण का गठीला शरीर बडे-बडे कमल के समान विकसित नेत्र, भोला भाला मनोहर मुख तिस पर छोटी छोटी अलकावली बिखर रही थी। नारद जी का बच्चे को देखकर हृदय भर आया। वात्सल्य रस उमड़ पडा।

पैरों पर पड़े हुए बच्चे को अत्यन्त स्नेह से अपने पाप नाशककर कमलों से बलपूर्वक उठाया। उसकी छोटी-छोटी अलकों को उँगलियों से समझाते हुए, अपने पीत वस्त्र से उसके पसीने को पोंछते हुए सम्पूर्ण स्नेह को बटोरकर बोले—"बेटा! तुम्हारा मुख मलीन क्यों हो रहा है ?"

जैसे पके हुए फोड़े को छूने से एक प्रकार का मीठा मीठा दर्द होता है, तथा अधिक दबाने से उसमें से पीब निकलने लगता है, उसी प्रकार दुःख भरे हृदय के समय कोई सौहार्द से सहानुभूति प्रकट करता है, तो हृदय पिघलकर स्वतः ही बहने लगता है। ध्रुवजी बालक ही ठहरे। इस अरण्य में भी मुझसे प्रेमपूर्वक दुःख पूछने वाले ये महर्षि मुझ पर इतन स्नेह प्रकट कर रहे हैं, यह सोचते ही ध्रुवजी की छाती फटने लगी। नेत्रों के झरझर-झरझर आँसू बहने लगे। धैर्य का बाँध टूट गया। हृदय का आवेग पानी बनकर बह निकला।

नारदजी ने गोद में बिठाकर उसके आँसू पोंछे और स्नेह से बोले—'बेटा! तू मुझे बता दे सब बात, क्यों तू इतना दुःखी है ?" रोते-रोते ध्रुव ने कहा—"भगवन्! क्या बताऊँ ? आपसे कोई बात छिपी तो है नहीं। मैं अपने पिता की गोदी में चढ़ना चाहता था, उसी समय मेरी सौतेली माँ ने मुझसे ऐसे-ऐसे कड़े वचन कहे, कि वे मेरे हृदय में शूल की भाँति चुभ गये हैं। उन वाग्बाणों ने मेरे हृदय में बड़े बड़े छेद कर दिये हैं, उस अपमान को मैं किसी प्रकार नहीं भूल सकता।"

बच्चे की बात सुनकर नारद जी मन-ही-मन सोचने लगे—"देखो! वीर्य का कैसा प्रभाव होता है। क्षत्रिय के वीर्य से उत्पन्न इस छोटे से बालक में तेजस्वी क्षत्रियों के अभी से गुण विद्यमान हैं। क्षत्रिय बातें चाहे सहन कर ले, किन्तु वह अपमान को सहने करने में समर्थ नहीं। मान भंग की अपेक्षा मृत्यु को श्रेय-

स्कर समझते हैं। छोटे से बच्चे के हृदय में सौतेली माँ की बात कैसी चुभ गयी है, सब कुछ छोड़कर इस अल्पावस्था में यह घर से निकल पड़ा है। ऐसा सोचकर वे ध्रुवजी से उनके सिर पर हाथ फेरते हुए प्रेम से कहने लगे—"अरे, तू तो निरा बच्चा ही है। बच्चों का क्या मान अपमान। किसी ने पुष्प दिया प्रसन्न हो गये, छीन लिया रो पड़े। बच्चों को दो ही बात याद रहती हैं खा लिया खेलते रहे। यह तो खाने खेलने की अवस्था है बच्चा! लड़कों को मान-अपमान का ध्यान नहीं होता। कोई बात हुई भी तो उसी समय रो पड़े, क्षण भर में भूल गये।"

ध्रुवजी बोले—"महाराज! यह तो सब ठीक है। मान लीजिये मेरा मान-अपमान न सही, किन्तु मेरी सौतेली माँ ने तो मेरी जननी का तिरस्कार किया था। नियमानुसार मेरी माँ ही पटरानी हैं, मैं उनका बड़ा पुत्र हूँ। पिता की गोद में राजसिंहासन पर बैठने का मेरा अधिकार था, सो पिताजी ने मुझे गोद में नहीं लिया। उलटे मेरी विमाता ने मुझे और मेरी माँ को भाग्यहीन बताया। इसे मैं सहन नहीं कर सकता।"

यह सुनकर नारद जी हँसते हुए बोले—"अरे, भैया! कौन किसका मान करता है कौन अपमान? इन सब बातों की तो मनुष्य मोह के वशीभूत होकर कल्पना कर लेता है। इसी कारण उसे अपनी स्थिति पर असन्तोष होने लगता है। सब तो राज-सिंहासन पर बैठे तो तेरे नगर में बहुत से कुमार हैं, जिन्हें भर पेट रोटी भी नहीं मिलती। वे तेरी भाँति दुःखी नहीं होते।"

ध्रुव जी ने कहा—"महाराज! उनका प्रारब्ध ही ऐसा है। मैं तो राजपुत्र हूँ। मेरा तो राजसिंहासन पर अधिकार है।"

नारदजी ने हँसते हुए कहा—"अरे, कौन राजपुत्र कौन दरिद्रपुत्र? ये सब अज्ञानजन्य विचार हैं। न कोई भैया राज-पुत्र न कोई कंगाल पुत्र, सभी अपने-अपने कर्मानुसार संसार में

मान-अपमान, सुख-दुःख आदि भोग रहे हैं। बहुत से राजा होने पर भी दुःखी हैं। बहुत से दरिद्र होने पर भी सुखी हैं। बहुतों के पास विषय भोग की सभी सामग्रियाँ हैं वे उनका भोग नहीं कर सकते। बहुतों पर कुछ नहीं है, फिर भी राजाओं से भी बढ़कर सुख भोगते हैं। अतः बेटा प्रारब्ध समझकर इस अपमान को सहन करो। भगवान् की विचित्र गति है, दैव इच्छा ही बलवती है, अतः शोक को छोड़ दो। अपने घर लौट जाओ।"

ध्रुवजी ने दृढ़ता के साथ कहा—"महाराज जी! अब मैं बिना भगवान् के दर्शन किये घर तो लौटने का नहीं। मेरी माँ ने बताया है कि उन कमलनयन भगवान् वसुदेव की शरण में जाने से सभी दुःख दूर हो जावेंगे। सभी क्लेश मिट जायँगे, अतः अब मैं उन्हीं की श्रद्धा भक्ति सहित आराधना करूँगा।"

इतना सुनते ही नारद जी बड़े जोर से हँस पड़े और बोले— "बेटा! भगवान् को पाना कुछ गुड़ का पूआ तो है नहीं कि झट मुँह में डाला पटट गप्प कर गये। मुन्ना! भगवान् को पाना टेढ़ी खीर है। जिसने अपनी सभी इन्द्रियों को वश में नहीं कर लिया है उसके लिये योग साधन द्वारा भगवान् को पाना अत्यन्त ही कठिन है। वह योग साधन कर ही नहीं सकता। तू तो अभी समझता नहीं, बालक है, तेरी तो बात पृथक रही। बड़े बड़े योगीजन हजारों वर्ष निःसङ्ग रहकर निरन्तर जिनकी एकाग्र मन से उपासना करते रहते हैं, वे भी उन भगवान् को सरलता से प्राप्त नहीं कर सकते तो फिर तू तो अबोध है। माता की गोदी में खेलने योग्य है।"

ध्रुवजी ने कहा—"तब भगवन्! मैं किसी प्रकार उन भगवान् को कभी प्राप्त ही नहीं कर सकता। आप तो मेरे उत्साह को सर्वथा भङ्ग ही कर रहे हैं।"

शीघ्रता से नारद जी ने कहा—"नहीं बेटा! यह मैं कब कहता हूँ, कि तू कभी प्राप्त कर ही न सकेगा। अवश्य कर सकेगा, किन्तु मेरे प्यारे बच्चे! सब कार्यों का समय होता है, असमय का किया हुआ कार्य सफल नहीं होता। समय आने पर तू भी भगवान् को प्राप्त कर सकेगा। अभी खूब आनन्द से मौज उड़ाओ खेलो खाओ। बड़े हो जाओ तब मलूक-सी बहू विवाह के लाओ, उसके संग गृहस्थ धर्म का पालन करो। बाल बाच्चे पैदा करो। जब लड़के के भी लड़का हो जाय, सिर हिलने लगे, अंग शिथिल हो जायँ, तब पौत्र प्रपौत्र का मुख देखकर वन में जाना। वहाँ भगवान् की आराधना करना। मैं तेरा उत्साह भंग नहीं कर रहा हूँ, बच्चा! तेरे हित की बात कह रहा हूँ। अब तू अपनी माँ के पास लौट जा। यह भी मत सोचना मैं लौटकर आऊँगा तो माँ क्या कहेंगी। बच्चों की बात तो सभी जानते हैं, क्यों कभी न कभी सभी बच्चे रहे हैं,, इसीलिये बच्चा कितना भी अपराध कर दे सब यही कह देते हैं—"अजी, अभी बच्चा ही तो है। इसलिये तू लौटने में आगा-पीछा मत करे।"

ध्रुवजी ने कहा—"भगवन्! अब मैं बिना उच पद प्राप्त किये कैसे लौटूँ? माता के सम्मुख मैं यही प्रतिज्ञा करके घर से निकला हूँ कि सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करके ही लौटूँगा। यदि मैं अकृत कार्य होकर लौटा तो माता चाहे मुझसे कुछ न कहे, पुरवासी मुझे हँसेंगे। मेरी सौतेली माँ मुझे बार-बार और भी अधिक धिक्कारेगी, कि बाबाजी बनने वन में गया था। फिर लौट क्यों आया। हमें ऐसा कह के डराता होगा।" ऐसी-ऐसी बहुत-सी बातें कहकर वह मेरा पग-पग पर तिरस्कार करेगी। घर में रहते हुए भी मेरा मरण ही हो जायगा।"

नारद जी ने कहा—"अरे, तू तो निरा बच्चा ही है। भैया, दुःख-सुख देने दिलाने वाला दैव ही है। दैव का जैसा विधान

होता है उसे वैसा ही सुख दुख मिलता है। तेरे भाग्य में ही तिरस्कार लिखा होगा, तो वन में भी शत्रु बन जायँगे, वे तेरा तिरस्कार करेंगे। तेरे भाग्य में सम्मान होगा, तो घर के शत्रु भी मित्र बन जायगे। नदी, नद, वृक्ष, पर्वत तक सत्कार करेंगे। देख संसार में तीन तरह के ही मनुष्य होते हैं, गुण में अपने से श्रेष्ठ अपने से अधम और अपने बराबर। जो अपने से गुणों में श्रेष्ठ हों उनका सदा सम्मान करना चाहिये, उन्हें देखकर सदा प्रसन्न होना चाहिये। उनसे कभी भूलकर भी ईर्ष्या न करनी चाहिये। उनके सम्मुख या पीठ पीछे उनकी निन्दा न करनी चाहिये। जो अपने से कम गुण वाले हों उन पर सदा कृपा रखनी चाहिये। उनका कभी तिरस्कार न करना चाहिये। हृदय से सदा उनसे प्यार रखना चाहिये। डाँटना डपटना भी हो तो भीतर से प्रेम रखते हुए उनके हित के ही लिये डाँटे डपटे। जो अपने समान गुण वाले हों उनसे मैत्री का भाव रखना चाहिये। वे जो वस्तु माँगें और हम देने में समर्थ हों तो उसे स्नेह पूर्वक दे देनी चाहिये। उनके साथ भोजन करना चाहिये, आपस में हँसी विनोद तथा दुःख सुख की बातें करनी चाहिये; इस प्रकार समझकर जो सबके साथ बर्ताव करता है उसे कभी दुःख नहीं होता। तू अपनी विमाता के बुरे वचनों को सुनकर भी बुरा न मानेगा, सदा उन्हें सुनकर उसके पैरों को ही छूता रहेगा, तो एक दिन अवश्य वह तुझे प्यार करने लगेगी। तू बालक होने के कारण हठ कर रहा है, ऐसी हठ ठीक नहीं, इसे छोड़ दे और अपने घर लौट जा।"

नारदजी के ऐसे गूढ़ वचनों को सुनकर ध्रुवजी उनका कुछ उत्तर न दे सके। बालक ही ठहरे। इतने बड़े महर्षि के वचनों को कैसे काट सकते थे। अतः वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहते हुए बोले—"भगवन्! आपने जो मुझे प्रारब्ध का रहस्य सम-

बताया है, वह सत्य है, यथार्थ है, किन्तु 'प्रभो'! यह भाग्यवादियों के ही काम का है, जो पुरुषार्थ का आदर नहीं करते। यह शांति प्रिय सरल चित्त वाले भक्तों के लिये उपादेय हो सकता है। हे स्वामिन्! हम जैसे पुरुषार्थवादियों की पहुँच वहाँ तक अभी नहीं है। इस दृष्टि से हम अज्ञानी ही हैं, यह बातें बहुत ऊँची हैं। साधारण मनुष्य इनके आश्रय से आलसी और निकम्मा बन जाते हैं। यदि मेरे मनमें समता आ जाये, चित्त सुख दुःख मान-अपमान में समता का अनुभव करने लगे, तब कोई बात ही नहीं थी, फिर तो घर लौटने में कोई हानि ही नहीं थी, किन्तु आपके ये सुन्दर हितकारी उपदेश मेरे चित्त पर उसी प्रकार नहीं ठहरते जिस प्रकार कमल के पत्तों पर पानी नहीं ठहरता। मेरा चित्त विमाता के वाग्बाणों से बुरी तरह बिंध गया है। जो घाव मेरे हृदय में हुए हैं, वे आपके इन कोमल वचनोंसे भर नहीं सकते, क्योंकि मेरा हृदय क्षत्रिय हृदय होने से अत्यन्त घोर और क्रूर है। इसलिये ब्रह्मन्! मैं घर तो लौटूँगा नहीं। इनके अतिरिक्त आप मुझे जो भी उपदेश देंगे, उसे श्रद्धासहित शिरोधार्य करके उसी के अनुसार साधन करूँगा।"

नारदजी भीतर ही भीतर प्रसन्न होते हुए बोले—"अच्छा तो तू चाहता क्या है ?"

ध्रुवजी ने सरलता से कहा—"चाहता क्या हूँ, भगवन्! मेरा मनोरथ अत्यन्त ही कठिन है। और यदि आपकी कृपा हो जाय, तो कुछ कठिन भी नहीं। आपकी कृपा के सम्मुख कुछ भी बात असंभव नहीं। ब्रह्मन्! मैं उस पद को प्राप्त करना चाहता हूँ, जिस पर आज तक मेरे पिता प्रपितामह भी न पहुँचे हों। उस श्रेष्ठ से-श्रेष्ठ परमपद को चाहता हूँ, जो कल्पान्त में भी नाश न हो। यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है, तो उसी पद को प्राप्त करने का उपाय बताइये, किन्तु बिना उस पद को प्राप्त किये घर

न जाऊँगा, चाहे आप मुझे क्रोध से शाप दें या मेरे ऊपर अनुग्रह करके वरदान दें।"

यह सुनकर हँसते हुए नारदजी बोले—"अरे, भैया! यह तो तैंने बहुत बड़ी बात कह दी यह तो तेरा बहुत कठिन मनोरथ है, हम तो भीख माँगकर खाने वाने वाले बाबाजी हैं, इतने बड़े, पद की प्राप्ति का उपाय हम क्या जानें? हम तो स्वयं ही इधर से उधर मारे-मारे फिरते हैं।"

यह सुनकर ध्रुवजी ने अत्यन्त ही विनीत भाव से कहा—"भगवन्! मेरी वंचना न करें। मुझे बहकायें नहीं, अनधिकारी समझकर मेरी उपेक्षा न करें। आप स्वयं साक्षात् भगवान् ब्रह्मा जी के मानस पुत्र हैं। आप सर्वसमर्थ हैं, आप मारे-मारे नहीं फिरते, किन्तु सूर्य के समान संसार में विचरण करके सभी को सुख पहुँचाते हैं, शांति का मार्ग दिखाते हैं, परमार्थ का रहस्य समझाते हैं। जीवों पर कृपा करने के निमित्त स्वरब्रह्ममयी वीणा को बजाते हुए सभी का कल्याण करते फिरते हैं। सबको सुखी बनाने के लिये घूमते हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! नारदजी को यही तो अभीष्ट था। वे ध्रुवजी को घर लौटना नहीं चाहते थे, किन्तु ठोक पीट-कर उसे देख रहे थे, कि यह कच्चा तो नहीं है। जब उन्होंने समझ लिया कि चेला पक्का है, फूटने फिसलने वाला नहीं है, तब वे परमार्थ का उपदेश देने को उद्यत हुए।"

छप्पय—बेटा! जग में जीव भाग्यतें दुख सुख पावें।
जा घर अपने लौटि व्यर्थ क्यों धक्का खावें॥
ध्रुव बोले—हे विभो! बात बैठे नहि मनमें।
बाग्बाण बहु बिंधे विमाता के मम तनमें॥
घर लौटँगो तबहि जब, सर्वोत्तम पद पाउँगो।
नहिं तो मुनिवर! घोर तप, करत करत मरि जाउँगो॥

ध्रुवजी को नारदजी का उपदेश

[२२३]

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निश्रेयसस्य ते ।
भगवान् वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना ॥
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥

(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० ४०, ४१ श्लोक)

छप्पय

मुनि प्रसन्न अति भये देखि दृढ़ता बालककी ।
बोले—बेटा बात मातु की अति ही हितकी ॥
सब रोगनि की एक ओषधी हरि-पद-सेवन ।
जा कालिन्दीकूल धाम जहँ मनहर मधुवन ॥
गोवरधन गिरिवर जहाँ, कृष्ण करें क्रीड़ा कलित ।
ललित कुंज झुकि झूमिकें, चूमें हरिपद-रज सतत ॥

फूटे घडे में जल ठहरता नहीं, बह जाता है। कच्चे घड़े में

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी ! नारदजी ध्रुवजी की दृढ़ता देखकर बोले—'देखो बच्चा ! तेरी माँ ने जो तुझे पन्था बतायी है यथार्थ में यही तेरे लिये कल्याण कारक है। तू भगवान वासुदेव में चित्त लगाकर उन्हीं का भजन कर। जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप अपने कल्याण का इच्छुक हो, उसके लिये इनकी प्राप्ति का कारण एकमात्र श्रीहरि के पाद पद्मों का सेवन ही है।'

जल भर देने से कुछ देर जल ठहर तो जाता है, किन्तु कुछ ही देर में घड़ा भी फूट जाता है, जल भी बह जाता है। अतः चतुर पुरुष सत्पात्रकी परीक्षा करके उसे भली-भाँति ठोक बजाकर देख लेते हैं, तब पानी भरते हैं। सुन्दर निश्छिद्र पके पात्र में जल भरने से वह बहुत दिन तक उसमें बना रहता है। सबकी तृषा को शान्त करता है, जीवन को धारण कराता है। इसीलिये सद्गुरु शिक्षा देने के पूर्व सच्छिष्य की भाँति-भाँति से परीक्षा करते हैं। संसारी विषयों की बड़ाई करके उसके हृदय को टटोलते हैं, इसमें कहीं इनके लिये छिद्र तो नहीं है। प्रेमपूर्वक उसे ठोक बजाकर हिला-डुलाकर सब ओर से देख लेते हैं। इसमें कचाई तो नहीं है। जैसे खूँटे को गाड़कर उसे बार-बार हिला-हिलाकर देख लेते हैं, दृढ़ता से गड़ा या नहीं। हिलता तो नहीं है। जब उसे भली-भाँति दृढ़ समझते हैं तब उसमें पशु को बाँधकर निरोध करते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुर जी! परमार्थ को बहुत कठिन बताकर साधन के भय दिखाकर पहले तो नारदजी ने ध्रुवजी की परीक्षा ली। जब उन्हें अपने निश्चय में दृढ़ पाया, तब बड़े प्रसन्न हुए और उनके कल्याण के निमित्त बड़े स्नेह से उन्हें उपदेश देने लगे।"

नारदजी बोले—"बेटा! यदि तू अब घर नहीं लौटना चाहता तो वन में ही रहकर कालक्षेप कर।"

ध्रुवजी बोले—"महाराज! मैं तो अबोध बालक हूँ, कुछ जानता बूझता नहीं। किसी ने आज तक मुझे शिक्षा दीक्षा नहीं दी। वन में रहकर क्या करना चाहिये। मेरी माँ ने तो मुझे इतना ही बताया है, भगवान् की शरण में जाने से सब दुःख दूर हो जायँगे। कृपया मेरा कर्तव्य मुझे बताइये। जिससे शीघ्र इष्ट-सिद्धि प्राप्त हो सके ऐसा उपदेश मुझे दीजिये।"

नारदजी ने कहा—"हे सुनीतिनन्दन! तेरी माँ ने जो तुम्हे उपदेश दिया है, उसी के द्वारा तेरा कल्याण हो सकता है। बिना भगवान् वासुदेव की शरण गये, संसार में आज तक न किसी का कल्याण हुआ है न होगा। समस्त दुखों को दूर करने वाले दयासागर भगवान् मधुसूदन की पाद परिचर्या से ही परमार्थ का पथ परिष्कृत हो सकता है, अतः तुम अपने को प्रभु पादपद्मों में समर्पित कर दो। उन्हीं अखिलेश को आत्मसमर्पण करके तुम समस्त आधिव्याधियों से मुक्त हो जाओगे। उनके नाम का निरन्तर गान करो, उनके चारु चरित्रों का चिन्तन करो, उनके भुवन मोहन रूप का ध्यान करो। कृपालु कृष्ण तुम्हारे ऊपर कृपा की वृष्टि करेंगे। भक्त भयहारी भगवान् तुम्हारे भय शोक आदि को दूर कर देंगे। चराचर में समान भाव से बसने वाले वासुदेव तुम्हारी समस्त वासनाओं का नाश कर देंगे।"

ध्रुव ने पूछा—"प्रभो! मैं रहूँ कहाँ? कहाँ रहकर उन सर्वान्तर्यामी भगवान् वासुदेव का चिन्तन करूँ? कहाँ मेरा मन स्वतः ही एकाग्र हो जायगा। ऐसा कोई सुन्दर सा पुण्य स्थान मुझे बता दें।"

गद् गद् कंठ से नारद जी बोले—"बेटा! जीव मात्र का एक मात्र आश्रय ब्रजमण्डल ही है। समस्त जीव ब्रज की ही ओर बढ़ रहे हैं। जिसने ब्रज मण्डल का वास पा लिया। उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया, उसका जीवन सफल होगा। यह भूमि इसीलिये भाग्यशाली है, कि उसके ऊपर ८४ कोस का ब्रजमण्डल है। वसुन्धरा इसे ही अपना सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य समझती है, कि ब्रज में उसके ऊपर परात्पर प्रभु के पादपद्म पड़े थे। उसी के ऊपर वज्र, अकुंश, ध्वजा आदि चिन्हों से चिह्नित चरण नंगे ही गौओं के पीछे-पीछे पधारे थे। संसार में सभी के लिये साधन और सिद्धि का स्थान रसमयी भूमि ब्रजमण्डल ही है, जिसकी धूलि

के लिये ब्रह्मादिक देवता सदा तरसते रहते हैं। उद्धव जैसे परम ज्ञानी भक्त जहाँ गुल्म लता बनकर वास करने में अपना सौभाग्य समझते हैं। मनु वंशावतंस कुमार! तुम भगवान् की परम पुण्य-मयी क्रीड़ास्थली मथुरापुरी में जाओ। मधुवन में भगवती कालिन्दी के कमनीय कूल पर कालक्षेप करते हुए कृष्ण-कृष्ण रटते रहो। जितना घोर तप कर सकते हो करो। भगवान् तो सर्वत्र ही विराजमान हैं, किन्तु व्रज में वे साक्षात् रसरूप होकर नित्य निवास करते हैं गोप, गोपी, गौ, ग्वालों को लिये हुए सर्वदा क्रीड़ा करते है।"

ध्रुवजी बोले—"महाराज! वहाँ मैं कैसे कालक्षेप करूँ? मेरी चर्या बता दीजिये। प्रातःकाल से सायंकाल तक के सब कृत्य समझा दीजिये।"

नारदजी बोले—"देखो, बेटा,! बहुत तड़के भोर मे ही उषा काल से पूर्व ही आसन से उठ जाना। बाहिरी शौचादि से निवृत्त होकर अमृतोपम यमुनाजी के सुन्दर सलिल में श्रद्धा सहित स्नान करना। स्नान करके अपने आसन पर पद्मासन से स्वस्ति-कासन से बैठ जाना फिर प्राणायाम करना।"

ध्रुव जी बोले—"महाराज! प्राणायाम तो मैंने कभी किया नहीं मुझे प्राणायाम की विधि बता दीजिये।"

नारदजी बोले—"भैया, प्राणायाम कोई कठिन क्रिया थोड़े ही है। सभी मनुष्य निरन्तर प्राणायाम करते रहते हैं। नाक के द्वारा श्वांस आती है। भीतर जाती है कुछ ठहरती है। यही प्राणायाम है। जब वायु को पूर्ण करते हैं, उसे पूरक प्राणायाम कहते हैं कुम्भ-घड़े की तरह प्राण को भरकर रोक लेते हैं इसे कुम्भक कहते हैं। जब उसे रेचन अर्थात् छोड़ते हैं उसे रेचक प्राणायाम कहते हैं। अनामिका और मध्यमा दायें हाथ की दो अँगुलियों से बायें नाक के नथुने को बंद करके दायें नथुने से धीरे

धीरे वायु को भरने का नाम पूरक प्राणायाम है जितने देर में पूरक करे उससे चौगुनी देर तक उसे रोके रहे, न श्वास को आने दे न जाने। अनामिका और मध्यमा से वायें नथुने को और अँगूठे से दायें नथुने को दृढता पूर्वक बन्द किये रखे। ओठ से मुँह को बद रखे। फिर वायें नथुने से दोनों उँगलियों को हटाकर उससे धीरे धीरे वायु को रेचन करे। जितने देर में वायु भरी थी अर्थात् पूरक किया था उससे दुगुनी देर में शनैः शनैः वायु को निकाले शीघ्रता न करे साधारणतया यही प्राणायाम है। इनके अनेक भेद है। वास्तव में यह प्राणाम नहीं श्वासायाम है। श्वासायाम करते करते स्वय प्राणायाम होने लगेगा। वायु भरने की नली श्वासायाम करते-करते शुद्ध हो जायगी। फिर भोजन की आवश्यकता नहीं रहती। पेट में वायु भर लो वही आहार यथेष्ट है उसी से प्राण धारण हो सकते हैं। यह निरन्तर के अभ्यास से होता है। प्राणायाम से प्राणों की इन्द्रियों की और मन की मलीनता नष्ट हो जाती है। पहिले यम-नियमों का पालन करत हुए वाह्य और आभ्यान्तर शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये। फिर आसन को दृढ करके प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ करत प्राणायाम की सिद्धि होने लगे, भीतर के मल जितने ही नष्ट होते जायँगे उतना ही भीतर प्रकाश दिखायी देने लगेगा। सुषुम्ना का द्वार खुल जायगा। पहिले नीलवर्ण की फिर लालवर्ण की और फिर अत्यन्त शुभ्रवर्ण की सुषुम्ना नाड़ी प्रत्यक्ष दिखायी देने लगेगी। आँख खोलो चाहे बन्द करो वह दीखेगी ही। पहिले एक बिन्दु दिखायी देगा। आँख खोलकर जिधर भी दृष्टि डालो उधर ही वह अत्यन्त गहरे रग का चलता-सा दिखायी देगा। ये नीले, लाल और शुभ्र तीनों रग इतने गहरे और सुहावने होते हैं, कि ससार के किसी रग से भी हजारों गुना नीला दीखता है। लाल दिखायी देता है तो शशक के रक्त के भी

सैकड़ों गुणा लाल और शुभ्र दिखाता है तो शंख, चाँदी, कुन्द तथा शारदीय चन्द्रमा से भी शुभ्र वह वर्ण होता है। साधक को इस चमत्कार से विस्मित न होना चाहिये। यह तो केवल नाड़ी शुद्धि का रूप है। जब तक नीला दिखायी दे समझना चाहिये तमोगुण की वृद्धि है, लाल दिखायी दे तो रजोगुण का प्राबल्य और शुभ्र दिखायी दे तब समझना चाहिये अब सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है। मन में बाहिरी विषय का चिन्तन हो तो उसे बलपूर्वक रोक देना चाहिये योगशास्त्र में इसका नाम प्रत्याहार कहा है।

जब ऐसी स्थिति हो जाय, तब भगवान् के साकार स्वरूप का ध्यान करना चाहिये। ध्यान ही मुख्य है। ध्यान की ही बढ़ी हुई अवस्था का नाम समाधि है। जब ध्यान परिपक्व हो जाता है, तो उसे धारणा कहते हैं और धारणा ही समाधि में परिणत हो जाती है। ध्यान, धारणा और समाधि इन तीनों का इकट्ठा हो जाना ही संयम कहलता है। यम नियम तो बाहिरी साधन हैं, इनकी आवश्यकता तो सर्वत्र है, इनके बिना परमार्थ के किसी भी मार्ग में प्राणी नहीं बढ़ सकता। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये मध्यम साधन हैं। विविक्त देश में बैठकर किये जाते हैं॥ ध्यान धारणा और समाधि में अन्तिम साधन हैं। ये अनेक जन्मों के अभ्यास से शुद्ध चित्त वाले साधक को बड़ी कठिनता से भगवत् कृपा से ही प्राप्त हो सकते हैं। सब साधनों के लक्ष्य ध्येय वस्तु का ध्यान करना ही है।"

ध्रुवजी ने कहा—"भगवन् मुझे ध्यान की विधि बताइये। मैं ध्यान कैसे करूँ ? किस वस्तु का ध्यान करूँ ? ध्यान के लिए भी तो कोई आधार चाहिये। निराधार वस्तु का तो ध्यान होता नहीं। शून्य का तो ध्यान ही क्या ? इसलिये ध्येय स्वरूप आप मुझे समझा दें।"

भगवान् नारदजी बोले—"वत्स ! ध्यान के लिये यह आवश्यक नहीं, कि अमुक रूप ही का ध्यान करने से सिद्धि होती है। यथाभिमत जो भी अपने को भगवान् का रूप प्रिय हो उसी का ध्यान करना चाहिये। फिर भी मैं तुझे चतुर्भुज भगवान् विष्णु के ध्यान की विधि बताता हूँ। मेरी बतायी विधि से तू ध्यान करेगा, तो निश्चय ही विष्णु भगवान् स्वयं साकार होकर तेरे सम्मुख प्रकट हो जायँगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इतना कहकर नारदजी ध्रुवजी को भगवान् विष्णु का सर्वोत्कृष्ट ध्यान का उपाय बताने को उद्यत हुए।"

छप्पय

जा, करि मधुवन वास आस जगकी तज दीजो।
कालिन्दीमें तीन काल मज्जन नित कीजो॥
यम नियमनिकूँ साधि बाँधि आसन जो सुखकर।
पूरक, कुम्भक और नित्य रेचक-करियो वर॥
मन इन्द्रिय अरु प्रान मल, मेटो प्राणायामतैं।
प्रत्याहार सम्हारिकैं, चित्त लगइयो श्यामतैं॥

—:o:—

श्रीनारदजी द्वारा ध्रुवजी को भगवद्-ध्यान का उपदेश

(२२४)

स्मयमानमभिध्यायेत् सानुरागावलोकनम् ।
नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम् ॥
एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः ।
निर्वृत्या परया तूर्णं सम्पन्नं न निवर्तते ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० ५१, ५२ श्लोक)

छप्पय

धरियो हरिको ध्यान भान जगको नहि होवे ।
श्रीहरिको शुभ ध्यान दुःख जगके सब खोवे ॥
मधुमय सुखकर मृदुल सुधासम मनहर बैना ।
सुन्दर लोल कपोल कमल मुख विकसित नैना ॥
कर कङ्कण केयूर वर, कुण्डल काननिमें लसें ।
करुणासागर प्रणत प्रिय, मन्द मन्द माधव हँसें ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् नारदजी ध्रुवजी को ध्यान की प्रक्रिया बताते हुए कह रहे हैं—"देखो वत्स ! एकाग्र चित्त से भगवान् की मनोहर मूर्ति का इस प्रकार ध्यान करे, मानो वे मन्द-मन्द मुस्कराते हुए मेरी ओर निहार रहे हो। इस प्रकार वरदानियों में श्रेष्ठ श्री श्यामसुन्दर का एक चित्त से ध्यान करे। इस प्रकार उन मंगलमय

संसार भावमय है, जो जैसी भावना करेगा, वह वैसा ही हो जायगा। भगवान् का ध्यान कोई भाग्यशाली ही कर सकते हैं, विषयासक्त मनसे भगवान् का ध्यान हो ही नहीं सकता। जिस मन में काम व्याप्त है, उसमें राम आ ही कैसे सकते हैं, यदि मन में राम आकर बैठ जायँ, तो फिर काम वहाँ फटक भी नहीं सकता। अनेकों जन्मों के ऐसे संस्कार पड़ गये हैं, कि विषयवार्ता तो अमृत से भी प्यारी लगती है, जहाँ भगवत् सम्बन्धी कोई बात छिड़ो कि नानी मर जाती है, मन भाँति-भाँति के बहाने बना कर वहाँ से भागना चाहता है। बड़े परिश्रम से यत्नपूर्वक भगवद्-विग्रह का ध्यान करे तो स्वप्न में भी वह दिखायी नहीं देती, इसके विपरीत किसी कमनीया कामिनी को एक बार भी देख लेते हैं, तो मन उसमें फँस जाता है। स्वप्न में भी दिखायी देती है। क्योंकि जन्मजन्मान्तरों के संस्कारानुसार उधर मनकी स्वाभाविक रुचि है। पानी ढालू पृथ्वी में तो आपसे आप बह जाता है। ऊँचे ले जाने को प्रयत्न करना पड़ता है।

जिन्होंने हजारों जन्मों में निरन्तर तपस्या, यज्ञ, दान आदि सत्कर्म किये हैं, इन शुभ कर्मों को करते-करते जिनके मनके मल विक्षेप आदि आवरण नष्ट हो गये हैं, ऐसे क्षीण पाप पुरुष ही भगवद् ध्यान के अधिकारी होते हैं। पूर्वजन्मों के अभ्यास के कारण उनकी स्वाभाविक ही भगवद्ध्यान में प्रीति होती है। अन्त में ध्यान करते-करते परम पद को प्राप्त कर लेते हैं। स्वनाम-धन्य सुनीतिनन्दन ध्रुवजी भी उन्हीं पुण्यश्लोक पूजनीय पुरुषों में से हैं।

प्रभु का ध्यान करते-करते मन अत्यन्त ही शीघ्र परमानन्द में निमग्न हो जाता है और ऐसा तल्लीन हो जाता है, कि फिर लौटकर नहीं आता। तन्मय हो जाता है।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! ध्रुवजी के पूछने पर नारदजी उन्हें ध्यान की विधि बताने लगे नारदजी ने कहा—"वत्स! भगवान् का वस्त्र आभूषणों के सहित ध्यान करना चाहिये। ध्यान करने वाला एकाग्र चित्त से ऐसा अनुभव करे कि स्वयं साक्षात् भगवान् मेरे हृदय कमलरूपी आसन पर विराजमान हैं। उनका ध्यान बैठे हुए, खड़े हुए, लेटे हुए जैसे अच्छा लगे वैसे ही करे। यह भावना रहे कि भगवान् समस्त सद्‌गुणों के आकार हैं। सौन्दर्य, माधुर्य, दया, कृपा, ऐश्वर्य, यश कान्ति ही श्री आदि सभी पूर्ण रूप से उनमें विद्यमान हैं। वे भक्तों पर कृपा करने के लिये सदा व्यग्र बने रहते हैं। वे गुरुओं के भी परमगुरु और सर्वश्रेष्ठ हैं, वरदानियों में सर्वश्रेष्ठ वरदाता हैं, उनकी अवस्था सदा किशोर रहती है। देवताओं के सौन्दर्य से भी असंख्यों गुणा सौन्दर्य उनके श्रीअग में विद्यमान है। वे प्रणतजनों के आश्रय, सुख को खानि करुणा के निधान और परम शोभावान हैं। यह सोचे कि भगवान् अपने कमल नेत्रों से कृपा की वृष्टि करते हुए प्रेमपूर्वक मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं, मुझे करुणावश निहार रहे हैं। चाहे नख से शिखा तक सब अङ्गों का क्रमशः ध्यान करे या शिखा से लेकर चरण नख पर्यन्त पृथक् पृथक् अंगों का उनके वस्त्राभूषण और आयुधों सहित ध्यान करे।"

ध्रुवजी ने कहा—"प्रभो! विस्तार से ध्यान की विधि बतावें। भगवान् के श्रीअंगों का किस प्रकार ध्यान करें।"

नारदजी बोले—"देखो, भगवान् की पहिले एक भावमयी अत्यन्त सुन्दर अत्यंत मनोहर मनोमयी मूर्ति बनानी चाहिये, फिर एकाग्र चित्त से सभी अंगों का क्रमशः शनैः शनैः ध्यान करना चाहिये। जब एक अंग में भली-भाँति मन टिक जाय तब दूसरे अंग पर मन को ले जाना चाहिये। ध्यान में शीघ्रता न करनी चाहिये व्यग्रता करने से ध्यान निष्फल हो जाता है।"

ध्रुवजी ने कहा—"किस अंग का पहिले ध्यान करे ?"

नारदजी बोले—"चाहे पाद पद्मों से प्रारम्भ करे या श्रीमुख से। मैं श्रीमुख से ही ध्यान की प्रक्रिया बताता हूँ। भगवान् के सिर पर सुन्दर सुहावना सर्व मणियों से युक्त चमचमाता मुकुट विराजमान है, जिसकी आभा करोड़ों सूर्य के समान है, उसमें लगी हुई मणियाँ उसी प्रकार दमक रही हैं मानों आकाश मे एक साथ ही सहस्रों पूर्ण चन्द्र उदित हुए हों। काली-काली घुँघराली कुटिल लटों पर वह मुकुट अत्यन्त ही शोभा दे रहा है। इसके अनन्तर भगवान् के मस्तक का ध्यान करे। जो विशाल है, जिस पर गोरोचन कुंकुम आदि का तिलक शोभित है। लाल वर्ण के ऊर्ध्व पुण्ड्र के इधर-उधर पीली चन्दन की खौर बड़ी ही भली मालूम होती है। श्रीजी ने भ्रुकुटियों से लेकर कपोल तक टेढी पत्रावली अंकित कर दी है। फिर भगवान की उन्नत नोकदार शुक के समान नासिका का ध्यान करे जिसमें लटकता हुआ मोती झोटे खा रहा है। धनुष के समान कुटिल भ्रुकुटिद्वय का ध्यान करते-करते उसमें तन्मय हो जाय। फिर कमल कोष के सदृश खिले अरुण डोरियों वाले कृष्ण पुतलियों से युक्त काले-काले अपांगों वाले नेत्रों को अपने हृदय में धारण करे। उन नेत्रों से सर्वदा कृपा की किरणें निकलती रहती हैं जो अज्ञान रूपी अंधकार को तत्क्षण मेंटने में समर्थ हैं। फिर सुन्दर भरे हुए, उभरे हुए, अत्यन्त चिकने बालों से रहित गोल-गोल कपोलों का ध्यान करे। यद्यपि वे नील मणि के सदृश हैं, फिर भी उनमें अरुणता की आभा उसी प्रकार दीखती है मानो गोल नील मणि के भीतर से लाल दिखायी दे रहा हो। मानो जो सुवर्ण के मकराकृत कुण्डल हैं उनकी आभा से दोनों कपोल दीप्त हैं, कानों ने कष्ट सहकर अपने आपको छिपाकर कुण्डलों को धारण किया है। किन्तु सौन्दर्य कपोलों का ही बढ़ रहा है। परोपकार का

इससे सर्वोत्कृष्ट उदाहरण और कहाँ मिलेगा। भगवान् के कपोल इतने सुन्दर इतने सुहावने हैं, कि जिनकी स्मृति मे ही ऐसी मादकता है, कि लक्ष्मी जी उन्हे निहारते निहारते आत्मविस्मृत हो जाती हैं। श्रीमुख पर मन्द मन्द मुस्कान छिटक रही है जिसमें उनकी मनोरम दाडिम के सदृश दन्तावली का कुछ भाग दिखायी देता है। दूध के फेन के सदृश सफेद कुन्द के समान स्वच्छ और अनार के दानों के सदृश झलमलाते हुए वे दशन ओष्ठ और अधर की आभा से ऐसे प्रतीत होते हैं मानों वन्धूक पुष्प की दो कलियों के ऊपर अत्यन्त छोटी-छोटी रोमावली उभडने के लिये उत्सुक हो रही है नीचे का अधर ओष्ठ इतना सलोना इतना पतला, इतना लाल है कि वह कमल कलिका के समान सर्वदा चंचल ही बना रहता है। ठोढ़ी पर बनाया हुआ तिल चन्द्रमा के लांछन को लज्जित कर रहा है।

शङ्ख के समान उतार चढाव की ग्रीवा मे मणि मुक्ताओं के हार तथा वनमाला उसी प्रकार प्रकाशित हो रही है मानो नील वर्ण के आकाश में इन्द्र धनुष शोभित हो रहे हो। भगवान् की उतार चढाव की बडी-बड़ी विशाल बाहुओं में अगद बजूबन्द उसी प्रकार लटक रहे हैं मानो वट की बडी-बडी शाखाओं मे लटें लटक रही हों। कलाई के ककण कभी ऊपर चले जाते कभी नीचे आ जाते हैं। भगवान् के चारों हस्तों मे शङ्ख चक्र गदा और पद्म विद्यमान है जो भक्तों के भय हरने और अनुरक्तों को सुख प्रदान करने मे सदा सजीव होकर विद्यमान रहते हैं। पाँचों उँगलियों के नख उसी प्रकार चमक रहे हैं मानो पाँच फण वाले अमृत मुख वाले सर्प के मुकुट में पाँच मणियाँ दमक रही हों। करतल रक्तवर्ण की रेखाओं और शङ्ख चक्रादि चिह्नों से सुचिह्नित हैं।

भगवान के विशाल वक्षःस्थल में श्री वत्स का चिह्न है, वह उसी प्रकार शोभित होता है मानो सजल जलधरों के बीच मे

भ्रमरों की वृनाकर पंक्ति शोभित हो। कौस्तुभ मणि उसमें दम-दम करती हुई दमक रही है। त्रिवली से युक्त उदर श्वासों के कारण कभी किञ्चित भीतर जाता है कभी बाहर आता है। गंगा से आवर्त के समान गोल नाभि रोमावली से ढकी अत्यन्त ही सुशोभित हो रही है। भरे हुए मोटे जघन पीताम्बर से ढके हुए अत्यन्त ही शोभायुक्त प्रतीत हो रहे हैं। उनके ऊपर दमकती हुई सुवर्ण की करधनी हिल रही है। उनमे छोटे-छोटे नूपुर बज रहे हैं। मानों सर्वोत्तम सौन्दर्य का जय घोष करते हुए डिमडिम पीट रहे हों। भगवान् की ऊरु केला के स्तम्भ के समान चिकने और चित्त को चुराने वाली है। गोल-गोल पिंडुरियाँ पापों को अपने प्रहार से पछाड़ने को सर्वथा समर्थ है। भगवान् के उभरे हुए टखने अत्यन्त ही दीप्तिमान हैं। उनके उभरे हुए कछुआ के पीठ के समान उतार चढ़ाव के चिकने पद ऐसे स्निग्ध हैं, मानों नील रङ्ग के मक्खन को जमाकर उसी की आकृति बनायी हो, भगवान् की उँगलियों के दशों नख दशों दिशाओं मे तिमिर को ध्वंस करने के लिये मानों दश चन्द्र एक साथ उदित हुए हों। लाल-लाल पदतल इतने सुकुमार हैं कि कोमल तुलसी के प्रहार को भी कठिनता से सहते हैं। लक्ष्मी जी जब अपने अत्यन्त कोमल करों से लज्जित हुई लीला से उन्हें अपने मुट्ठी में पकड़ कर हौले-हौले दबाती हैं तो अत्यधिक लाल हो जाते हैं। वे चरण ही भक्तों के सर्वस्व हैं। वे हृदय कमल के ही ऊपर टिकते हैं कठिन अवनि का स्पर्श करने योग्य वे नहीं हैं। इस प्रकार बेटा! उन भगवान् के समस्त अगों का ध्यान करे। चरणों मे बजते हुए नूपुरो का शब्द सुने। चरणों से लेकर पुनः सिर पर्यन्त ध्यान करके फिर सिर से लेकर चरणों तक आगे उस प्रकार अनुलोम प्रतिलोम से जितनी देर भी ध्यान कर सके उतनी देर ध्यान करे।"

ध्रुवजी ने कहा—"प्रभो ! यह तो आपने बड़ा ही मनोहर ध्यान का प्रकार बताया किन्तु ऐसा ध्यान आठों प्रहर-दिन-रात्रि-तो हो नहीं सकता जब ध्यान से चित्त उच्चाट हो जायँ तब क्या करूँ ?"

नारदजी शीघ्रता के साथ बोले—' जब जप करना चाहिये। ध्यान जप और पाठ ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। पाठ से जप, जप से ध्यान श्रेष्ठ है। ध्यान में चित्त न लगे तो मंत्र जाप करना चाहिये, जप में भी चित्त उचाट हो तो विष्णुसहस्रनाम अन्य ग्रन्थों का पाठ करना चाहिये।"

ध्रुवजी बोले—"महाराज जप किस मन्त्र का करूँ ?"

नारदजी ने कहा—"अपने योग्य शास्त्रकारों ने असख्यों मन्त्र बताये हैं। जिसका जो इष्ट मंत्र हो गुरु ने जिस मन्त्र का उपदेश किया हो उसी का जप करना चाहिये। उसी के जप से सिद्धि प्राप्त होती है, किन्तु मैं तो द्वादशाक्षर मन्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ तुम्हे उसका जप अनुकूल पड़ेगा।"

ध्रुवजी बोले—"महाराज ! द्वादशाक्षर मन्त्र कौन-सा है, उसका उपदेश मुझे दें।"

नारदजी बोले—"जो सर्वत्र बसते हैं, उन देवका नाम वासुदेव है। ६ भाग उनमें सदा समग्ररूप से विद्यमान् रहते हैं, इसलिये उनको भगवान् कहते हैं। इसलिये भगवान और वासुदेव में चतुर्थी लगाकर आदि में प्रणव का दो नमः जोडकर जो मन्त्र बनता है उसी को द्वादशाक्षर मन्त्र कहते हैं। इसमे १२ अक्षर होते हैं। एक प्रणव का दो नमः के, चार चतुर्थ्यन्त भगवन्छन्द के और ५ चतुर्थ्यन्त वासुदेव शब्द के इस प्रकार एक और दो तीन तीन और चार, सात, सात और पाँच इस प्रकार १२ अक्षर हुए।"

ध्रुवजी ने कहा—"महाराज मैं तो बच्चा हूँ मेरा अभी न

कोई संस्कार हुआ, न मैंने अक्षर ही पढ़े। आपने तो बड़े चक्कर से बताया। मुझे शुद्ध मन्त्र बताइये।"

नारदजी बोले—"ओं नमो भगवते वासुदेवाय" यही द्वादशाक्षर मन्त्र है। इसी का तुम निरन्तर जप करना। ध्यान का अधिक अभ्यास करना। ध्यान करते-करते ध्याता अत्यन्त शीघ्र ही उनके परमानन्द रूपी छवि के अमृत सागर में निमग्न हो मिल जाता है। जहाँ निमग्न हुआ कि फिर उसका आवागमन मिट जाता है उन्हीं हरि का हो जाता है। ससारी बन्धनों से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। ध्यान और जप इसी में समय को बिताओ। यह द्वादशाक्षर मन्त्र इतना गुप्त है कि सबके सम्मुख इसे प्रकट नहीं करना चाहिये। कंजूस के धन की भाँति इसे बड़े यत्न से रखना चाहिये। यह ऐसा महामन्त्र है कि कोई इसे बिना सोये सात दिन रात में निरन्तर जपता रहे तो उसकी ७ दिन में ही बुद्धि ऐसी निर्मल हो जाती है कि उसे आकाश में उड़ते हुए देवताओं के विमान, प्रत्यक्ष दिखायी देने लगते हैं।"

ध्रुवजी ने पूछा—"महाराज, द्वादशाक्षर मन्त्र का जप मात्र ही करें या कुछ और भी करना चाहिये ?"

नारदजी ने कहा—"और भगवान् की पूजा करनी चाहिये ?"

ध्रुवजी बोले—"महाराज, पूजा तो मैंने कभी की नहीं। पूजा की प्रकार भी कृपा करके बतावें। गुरु तो वे ही होते हैं जो सब की शिक्षा दें। सभी संशयों का छेदन कर साधन का मार्ग बतावें। मैं एक तो वैसे ही अज्ञानी हूँ, तिस पर अभी बालक हूँ। ५ वर्ष की अभी मेरी अवस्था है, मुझे अच्छे बुरे का विवेक भी नहीं, आप जो भी उपदेश देंगे, उसी का मैं यथावत् पालन करूँगा।"

नारदजी बोले—"बेटा ! पूजा, सेवा, अर्चा, ये सब एक ही बात है। भगवान् को बिना सेवा किये भक्त रह नहीं सकते। और की तो बात ही क्या स्वयं भगवान् भक्त से आकर कहें, कि

तुम पूजा करना छोड़ दो, हम तुम्हें मुक्ति देते हैं, तो भक्त बिना सेवा की उस मुक्ति को भी ठुकरा देते हैं। भजन, पूजन, परिचर्या यही तो भक्तों की निधि है। पूजा के अनेक भेद हैं। वैदिक, तांत्रिक तथा मिश्रित आदि अनेकों प्रकार से भगवान् की पूजा होती है। उसके बड़े-बड़े विधान हैं। उसमें सामग्रियों का विधियों का अत्यधिक विस्तार है। मैं उतने विस्तार में न जाकर अत्यन्त संक्षेप में तुम्हें सात्विकी पूजा का रहस्य समझाऊँगा। जिसमें बाह्य सामग्रियों की प्रधानता न होकर भाव की ही प्रधानता है। भगवान् भोगों के भूखे नहीं। भोगों को न उन्हें इच्छा है न कमी। सभी के एकमात्र स्वामी तो वे ही हैं। उनके यहाँ और सब वस्तु तो इतनी हैं, कि उनसे वे सदा तृप्त रहते हैं, उनकी उन्हें आवश्यकता नहीं। किन्तु प्रेम के वे स्वयं सागर और उद्गम होने पर भी सदा प्रेम के लिये भूखे बने रहते हैं। कोई उन्हें तनिक भी प्रेमपूर्वक पुकारता है तो वे रीझ जाते हैं और उसे अपनापन प्रदान कर देते हैं। इसलिये मेरी बतायी हुई पूजा पद्धति में प्रेम का ही प्राधान्य होगा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इतना कहकर नारदजी ध्रुवजी को पूजा पद्धति बताने को उद्यत हुए।"

छप्पय

करतल पदतल, ओठ अधर अति अरुण मनोहर।
मन्द मन्द मुसकान सजल जलधर वपु प्रियतर॥
काञ्चन की कमनीय करधनी कटि में भ्राजे।
शंख चक्र अरु गदा पद्म करकमलनि राजे॥
यों वैठा ! भगवान् को, ध्यान करोगे नेमतें।
तो निश्चय करुणायतन, प्रकट होयँगे प्रेमतें॥

ध्रुवजी को नारदजी द्वारा पूजा-पद्धति का उपदेश

[२२५]

सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः ।
शस्ताङ्कुरांशुकैश्चार्चेत् तुलस्या प्रियया प्रभुम् ॥
लब्ध्वा द्रव्यमयीमर्चां क्षित्यम्ब्वादिषु वार्चयेत् ।
आभृतात्मा मुनिः शान्तो यतवाङ्मितवन्यभुक् ॥

(श्री भा० ४ स्क० ८ अ० ५५-५६ श्लोक)

छप्पय

पूजा प्रभु की प्रेम सहित करियो मधुवन में ।
धरियो जो कछु मिले भावतें हरि चरनन में ॥
तुलसीदल जल फूल, मूल फल जो मिलि जावें ।
भाववस्य भगवान् प्रेमतें सोई पावें ॥
गोवर्धन की शिला वा, बटिया शालिग्राम की ।
करियो सेवा नेमतें, कृपा होहि घनश्याम की ॥

सेवा के बिना संसार में न कोई सिद्धि प्राप्त कर सकता है न सेवा किये बिना कोई रह ही सकता है । अन्तर इतना ही है,

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! भगवान् नारदजी ध्रुवजी को पूजा पद्धति का उपदेश करते हुए कह रहे हैं—"देख, बेटा ! पवित्र जलों से वन के मूल फलों से, मालाओं से, सुन्दर अंकुरों से, फूलों से

कि क्षुद्र हृदय के पुरुष क्षुद्र की सेवा करते हैं। संसारी विषयों में आसक्त प्राणी विषयी तथा भौतिक धन के धनी पुरुषों की उपासना करते हैं, उन्हें प्रसन्न रखने के लिये विविध प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। जो स्वर्गीय सुखों की, देवलोक की अप्सराओं की अमृत तथा नन्दन के पुष्प की वांछा करते हैं, वे देवताओं की भक्ति करते हैं, किन्तु जो भुक्ति मुक्ति अनुरक्ति तथा भक्ति सब कुछ चाहते हैं, वे सर्वेश्वर की सेवा करते हैं। अन्य सब तो ऐसे हैं, कि जो प्रसन्न होने पर एक आध वस्तु दे सकते हैं, किन्तु श्रीहरि तो ऐसे हैं जिन्हें प्रसन्न कर लेने पर कोई वस्तु अप्राप्य नहीं रह जाती, सब कुछ प्राप्त हो जाता है।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब ध्रुवजी ने नारदजी से पूजा करने की विधि पूछी तो वे उन्हें पूजा का प्रकार बताने लगे।"

ध्रुव ने पूछा—"भगवन्! मैं तो बालक हूँ। मैंने कभी पूजा की नहीं, कभी-कभी माता को मैंने पूजा करते देखा है। उसके लिये वह तो बहुत बड़ी तैयारियाँ करती थी, बहुत-सी सामग्रियाँ जुटाती थी, पुरोहितजी आते थे घंटों पूजा कराते थे। यहाँ अरण्य में मैं इतनी सामग्रियाँ कहाँ से जुटाऊँगा?"

नारदजी बड़े स्नेह से बोले—"अरे, नहीं भैया! इतनी सामग्रियों की आवश्यकता नहीं है। पूजा तो अपनी शक्ति के

तथा हरि प्रिया तुलसी के द्वारा प्रभु की पूजा करे यदि भगवान् की द्रव्यमयी अर्चा विग्रह प्राप्त हो सके तो उसी से, नहीं तो पृथ्वी जल आदि भगवान् के जो पूजा के स्थान बनाये हैं उन्हीं में समस्त सामग्रियों से हरि की पूजा करे। पूजक को चाहिये वह संयमपूर्वक मननशील होता हुआ शान्त चित्त से वाणी का संयम करके मौनी होकर पूजन करे और वन के फल-मूलों का स्वल्प आहार करके रहे।"

अनुसार करनी चाहिये। जो भी उपचार सरलता से उपलब्ध हो जायँ उन्हीं से पूजा हो सकती है। मैं पीछे बता ही चुका हूँ, भगवान् किसी वस्तु के भूखे नहीं, उन्हें सामग्रियों की इच्छा नहीं। भाव से एक चुल्लू जल भी कोई दे दे, एक पत्र तुलसी का भी चढ़ा दे उससे ही वे प्रसन्न हो जाते हैं।"

ध्रुवजी बोले—"महाराज, मुझे ऐसी वस्तुएँ बता दीजिये जो सरलता से मुझे वहाँ मिल जायँ। उन्हीं से मैं द्रव्यमयी पूजा कर सकूँ।"

नारदजी बोले—"देखो, यमुना जल की तो कुछ कमी ही नहीं। एक तूमड़ी में यमुना जल भर लाये। वहाँ जंगली फूल बहुत होते हैं, वृक्षों से फूल तोड़ लाये। तुलसीजी का तो वहाँ वन ही है। सबसे अधिक भगवान् को तुलसी ही प्रिय है। वे मंदार, पारिजात, चम्पा, कमल आदि किन्हीं पुष्पों का इतना आदर नहीं करते, जितना कि तुलसीजी का करते हैं। तुलसीजी ने अनेकों जन्म तपस्या करके यह पद प्राप्त किया है। एक दल तुलसीजी से भगवान् अत्यन्त ही सन्तुष्ट होते हैं। हरी-हरी दूब के कोमल-कोमल अंकुर ले आये। केलों के छिलके के डोरा बनाकर पुष्पों की माला बना ली। जंगली फल वहाँ बहुत हैं, पके-पके बेर तोड़ लाये। कैथा, बेल, अमरूद वहाँ बहुत खड़े हैं। उनके कच्चे पक्के जैसे भी फल मिले तोड़ लाये। जंगली कंद मिल गये कमलों का नाल आदि जो भी मिलें सबको लाकर उन्हीं से भगवान् की पूजा करना।"

ध्रुवजी बोले—"भगवन्! पूजा मैं करूँ किसकी?"

नारदजी बोले—"देखो, बेटा! सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु जल, पृथ्वी, ब्राह्मण, गौ, अतिथि, प्रतिमा, तुलसी, अपना हृदय, इन सब में भगवद् बुद्धि से पूजा की जाती है। इन सबमें प्रतिमा पूजन श्रेष्ठ है।"

ध्रुवजी ने पूछा—"प्रतिमा कै प्रकार की होती है ?"

नारदजी ने बताया—"भगवत् प्रतिमाओं के बहुत भेद हैं, उनमें ८ प्रधान हैं। पाषाण की प्रतिमा, काष्ठ की प्रतिमा, सुवर्ण, चाँदि आदि धातुओं की प्रतिमा, चन्दन को घिसकर उससे बनायी प्रतिमा कागज पर या दीवाल पर लिखी हुई, मणि आदि से बनायी प्रतिमा अथवा अपने मन से बनायी हुई भावमयी प्रतिमा ये ही प्रधानतया प्रतिमाओं के भेद हैं। तुम्हें कहीं भगवान् सालिग्राम की बटिया मिल जाय या श्री गोवर्धन जी साक्षात् भगवान् का स्वरूप ही है, उनकी मिल जाय तो उसी की भक्ति भाव से पूजा करना। ये सब न मिलें तो पृथ्वी में ही भगवान् की मूर्ति बनाकर पूजा करना। अथवा श्री यमुनाजी के जल में ही पूजा कर लेना।"

ध्रुवजी ने कहा—"महाराज! मेरी माँ पूजा कराती थीं, तो पुरोहितजी बहुत से मन्त्रों को बड़ी देर तक पढ़ते रहते थे। मैं तो एक भी मन्त्र नहीं जानता। फिर कैसे पूजा करूँगा ?"

नारदजी ने कहा—"बहुत मन्त्रों की आवश्यकता नहीं। एक ही मन्त्र बहुत है। द्वादशाक्षर मन्त्र से ही सम्पूर्ण पूजन हो सकता है।"

ध्रुवजी बोले—"किस प्रकार एक ही मंत्र से पूजन होगा ?"

नारदजी ने कहा—"देखो, पूजा करने वाले साधक को संयत-चित्त होकर, शान्ति के साथ, विचार पूर्वक मौनी होकर भगवान की पूजा करनी चाहिये। स्नानादि से निवृत्त होकर तिलक स्वरूप धारण करे यदि संन्ध्या वन्दन का अधिकारी हो तो सन्ध्यावन्दन करके नहीं तो वैसे ही विष्णु स्मरण पूर्वक आचमन करके शिखा बाँधकर स्वस्थ्य चित्त से पूजन पर बैठे। जल का एक पात्र भर कर रख ले। पूजन की सामग्री को दायीं ओर रखकर श्री विग्रह की ओर मुख करके अंगन्यास करन्यास जानता हो तो करे, नहीं

वैसे ही अंगों का स्पर्श करके यह भावना करे, कि श्री हरि मेरे सम्पूर्ण अगों में प्रवेश कर गये हैं। फिर मूल मन्त्र से ही पूजा करे। जैसे "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" आवाहयामि। (भगवान् का आवाहन करता हूँ) ॐ नमो० आसनं समर्पयामि (आसन देता हूँ) ॐ नमो० आचमनीयं समर्पयामि (भगवान् को) जल प्रदान करता हूँ) ॐ नमो० स्नानीयं समर्पयामि (स्नान को जल देता हूँ) ॐ नमो० वस्त्र समर्पयामि (भगवान को वस्त्र अर्पण करता हूँ) जो वस्तु न हो उसके स्थान में तुलसी या पुष्प अर्पण कर दे। जैसे वस्त्रस्थाने तुलसी दल समर्पयामि, यज्ञोपवीतस्थाने पुष्पाणि समर्पयामि। इत्यादि ॐ० नमो यज्ञोपवीतं समर्पयामि। ॐ नमो० गन्धं समर्पयामि, पुष्पाणि समर्पयामि, पुष्पमालां समर्पयामि धूपं आघ्रापयामि, दीप दर्शयामि, नेवेद्यं निवेदयामि, आचमनीयं प्रत्याचमनीय शुद्धाचमनीय समर्पयामि फलान्ते आचमनीयं समर्पयामि। मुखशुद्धयर्थं ताम्बूल पुंगीफलं अथवा तुलसी पत्राणि समर्पयामि। दक्षिणां समर्पयामि। निरांजन समर्पयामि। स्तोत्रं समर्पयामि। बस ऐसे मन्त्र बोलकर फिर यह वस्तु अर्पण करता हूँ ऐसे शुद्ध सात्विकी पूजा, आडम्बर से रहित यथालब्धोपचारों से श्रद्धा भक्ति पूर्वक करे।"

ध्रुवजी ने पूछा—"भगवन्! यदि षोडशोपचार पूजा न हो सके तब।"

नारदजी ने कहा—"तब पचोपचार ही पूजा करे। स्नान गन्ध, धूप, दीप, नैवेद्य तथा आचमनीय देकर हाथ जोड़ ले, क्षमा याचना कर ले। बात यह है भैया! आज मनसा, वाचा तथा कर्मणा भक्ति-पूर्वक ही करनी चाहिये। जो पूजा दिखाने को की जाती है, वह पूजा नहीं दम्भ है। भगवान् तो सबके घट-घट में व्याप्त हैं, जो निष्कपट होकर उनकी जिस भाव से सेवा करते हैं, उन्हें वैसा ही फल वे प्रदान करते हैं।"

ध्रुवजी ने पूछा—"किस भावना से भगवान् की पूजा करनी चाहिये ?"

नारदजी ने कहा—"भगवान् तो कल्पतरु है, जिस भावना से भी उन्हें भजो उसी भावना को वे पूरी करते हैं। यदि धनकी इच्छा से उनका पूजन करो, तो वे जितना चाहो धन देंगे। यदि धर्म की इच्छा से करो तो धार्मिक बना देंगे। यदि काम की इच्छा से पूजो तो समस्त कामनाओं को प्रदान करेंगे। स्वर्गीय भोगों को देंगे। यदि मोक्ष की इच्छा से भजो तो वे ससारी आवागमन से छुड़ाकर मुक्त कर देंगे। भगवान् को प्रसन्न करके जिसने संसारी भोगों की याचना की वह तो मानों भगवान् की माया के द्वारा ठगा गया। कल्पवृक्ष के नीचे जाकर उसने बकरी का दूध माँगो तो वह देगा तो अवश्य, किन्तु माँगने वाला मूर्ख समझा जायगा, अतः उनसे विषयों की याचना करना बुद्धिमानी की बात नहीं। इसलिये यदि उपासक को इन्द्रिय भोगों की इच्छा न हो तो वह मोक्ष प्राप्ति के लिये अत्यन्त भक्तियोग के साथ अनन्य भाव से, निरन्तर निःकाम होकर भगवान् का भजन ही करे। उनसे किसी भी वस्तु की याचना न करे। उन्हें जो प्रिय होगा वे स्वतः ही देंगे।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार नारदजी ने अपने बाल शिष्य को सभी प्रकार की शिक्षा दी। ध्रुवजी ने विनीत भाव से उनकी शिक्षा को सुना और उसे हृदय में धारण किया। अपने सद्गुरुदेव के चरणों में उन्होंने भूमि में लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उनकी चरण-धूलि मस्तक पर चढ़ायी। उनकी तीन प्रदक्षिणा की। फिर उनकी आज्ञा लेकर प्रेम के आँसू बहाते हुए बार-बार उनकी ओर कातर दृष्टि से निहारते हुए भगवान् के पुण्य धाम मधुवन की ओर चल दिये।"

छप्पय

द्वादश अक्षर सरिस श्रेष्ठ है मन्त्र न दूजो ।
याहीतें फल-फूल सहित हरिकूँ नित पूजो ॥
करि आवाहन प्रेम सहित आसन फिरि देयो ।
पाद्य अर्घ्य आचमन स्नान जलतें करवैयो ॥
वस्त्र और उपवीत दे, गन्ध धूप दीपादि करि ।
तब नैवेद्य फलादि मुख, शुद्धि फेरि द्रव्यादि धरि ॥

ध्रुव को विदा करके नारदजी का उत्तानपाद के समीप आगमन

[२२६]

तपोवनं गते तस्मिन् प्रविष्टोऽन्तःपुरं मुनिः ।
अर्हितार्हणको राज्ञा सुखासीन उवाच तम् ॥
राजन् किं ध्यायसे दीर्घं मुखेन परिशुष्यता ।
किं वा न रिष्यते कामो धर्मो वार्थेन संयुतः ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० ६३, ६४ श्लोक)

छप्पय

करिकें पूजा विविध भाँतितें विनती करियो ।
यों सब मनके मैल मेटि चित में हरि धरियो ॥
जो नर पूजें भाव भक्ति तें बेटा ! उनकूँ ।
मनवाञ्छित फल देहिं कल्पतरु सम हरि तिनकूँ ॥
धर्म-अर्थ अरु काम सुख, मोक्ष देहिं आश्रितनिकूँ ।
किन्तु न चाहें भक्त कछु, केवल चाहें भक्तिकूँ ॥

---

* मत्रेय मुनि कहत हैं - "विदुरी ! जब ध्रुवजी तपोवन-मधुवन को-चले गये, तब महामुनि नारदजी झट से महाराज उत्तानपाद के अन्त.पुर म पहुँच गये । महाराज ने उनका यथोचित आदर सत्कार तथा पूजन किया । फिर सुखपूर्वक आसन पर बैठकर वे राजा से बोले— "राजन् ! आप कुम्हलाये हुए मुख से किस गहरी चिन्ता मे मग्न हैं, क्या सोच रहे हैं ? तुम्हारा काम अथवा अर्थ स संयुक्त धर्म इन त्रिवर्ग मे से कोई नष्ट तो नही हो रहा है ?"

पाप दो प्रकार से किया जाता है, एक स्वेच्छा से दूसरा परेच्छा से। प्रारब्धानुसार जिनकी पापों में स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वे पापों का प्रसन्नता पूर्वक अनुराग के सहित करते हैं। पहिले कुछ चित्त में खटक होती भी है पीछे तो उन्हें करने में एक प्रकार का आनन्द आता है, ऐसे लोगों को या तो पश्चात्ताप होता नहीं, होता भी है तो बहुत काल के अनन्तर, किन्तु जो पाप पर-प्रेरणा से दूसरों को प्रसन्न करने के लिये किये जाते हैं, उन्हें करने के पश्चात् ही पश्चात्ताप होता है। चोरी, परस्त्री गमन आदि पापों में जो स्वत प्रवृत्त हैं, वे तो उसका अवसर खोजते रहते हैं और अवसर न मिलने पर दुःखी होते हैं, सताप करते हैं, किन्तु किसी विशेष कारणवश ये काम विवशतावश करने पड़ते हैं, तो चित्त में बड़ी ग्लानि होती है। ग्लानि होने से भी प्रायश्चित्त करने की प्रवृत्ति होती है। पाप करने के पश्चात् जो मन में एक प्रकार का ताप होता है—पछतावा होता है—उसे पश्चाताप कहते हैं। पाप करके उसका कृच्छ्रचन्द्रायण या और किसी उपाय से शोधन किया जाता है, उसे प्रायश्चित कहते हैं। इन बाहरी प्रायश्चितों से पाप का मूल तो प्रायः नष्ट होता नहीं, किन्तु पापों के फल भोगने से कमी हो जाती है।

महाराज उत्तानपाद बड़े बुद्धिमान् थे। यशस्वी और वृद्ध सेवी थे। सौन्दर्य प्रलोभन के वशीभूत होकर उन्होंने महारानी सुनीति को उनके अधिकार से च्युत कर दिया था, किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि वे सुनीति देवी और उनके पुत्र ध्रुव से घृणा करते थे। मन से वे सुनीति देवी का आदर करते थे। उनके गुणों के कारण वे उनसे डरते थे, उनके सामने होने में लज्जा का अनुभव करते थे, इसीलिये वे उनसे दृष्टि नहीं मिला सकते थे। सुनीति देवी पतिव्रता थीं, वे अपने पति को लज्जित करना नहीं

चाहती थीं, उनके सुख में वे बाधा पहुँचाना नहीं चाहती थीं, इसीलिये वे बिना बुलाये कभी महलों में नहीं जाती थीं।

कुमार ध्रुव भूल में चले गये, अपने फूल-से पुत्र को देखकर उनका हृदय उमड़ने लगा, किन्तु उनकी रूपगर्विता दूसरी रानी सुरुचि ने गोद में लेने से राजा को मनाकर दिया। ध्रुवजी क्रोध में भरकर बुरी तरह से रोते हुए राजा के महल से निकले। महाराज का हृदय भर गया। अब उन्हें अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। जब उन्होंने सुना मेरा छोटा-सा पुत्र मेरे अपमान से दुखी होकर वन को चला गया और लौटाने पर भी न लौटा। पीछे खोज करने पर दूर तक उसका कोई पता भी न मिला। तब तो राजा को निश्चय हो गया, मेरे पुत्र को किसी सिंह व्याघ्र ने खा लिया। ५ वर्ष का ही तो बालक था, कभी घर से बाहर नहीं हुआ था। मन्त्रियों को भेजकर मैंने उसे बुलाया भी, तो नहीं आया, तब मैंने सोचा—"स्वयं चलूँ, इसीलिये उसकी खोज करायी तो उसका फिर कहीं पता भी नहीं लगा। घोर अरण्य में किसी हिंसक जन्तु ने उसके प्राणों का अन्त कर दिया। हाय! यह सब हुआ मेरे ही कारण। पशु-पक्षी भी अपनी संतान से कितना स्नेह करते हैं। मैं पशु-पक्षियों से भी गया बीता हूँ। वह मुझे से माँगता नहीं था, कुछ लेने नहीं आया था। पिता की गोदी में चढ़ना चाहता था। जो बालक का जन्मसिद्ध अधिकार है। मुझ मन्दमति ने उसे अधिकार से ही वञ्चित नहीं किया, अपने पितृत्व पद से गिरा दिया। मैं लोगों को क्या मुख दिखाऊँगा. सभी मुझे पुत्रघाती कहेंगे। सुनते हैं सर्पिणी अपने पुत्रों को खा जाती है, किन्तु मुख से जो निकल जाता है उसे फिर नहीं खाती। मैं तो सर्पिणी से क्रूर निकला। माता सहित उसे घर से भी निकाल दिया, फिर भी उसका विनाश कर दिया। उसे सिंह व्याघ्रों का कवल बना दिया। इस प्रकार अनेकों चिन्ता करते हुए

महाराज महलों में उदास बैठे थे। न उन्होंने स्नान किया न देव-पूजन। फिर भोजन की बात ही क्या।

नारदजी तो सभी का ध्यान रखते हैं। जीवमात्र के सुहृद् हैं। सभी के अकारण बन्धु हैं। दुखियों का दुःख दूर करते रहना ही उनका व्रत है। ध्रुव को दुःखी देकर ब्रह्मलोक से दौड़े आये। उन्हें भजन पूजन का उपदेश करके मधुवन तपस्या करने भेजा। जब बालक पारमार्थिक दीक्षा प्राप्त करके, सद्गुरुदेव के चरणों में श्रद्धासहित प्रणाम करके चला गया, तब नारदजी को उसके पिता की चिन्ता हुई। जिसका इतना फूल-सा गुनुगुना सा छोटा बच्चा अकेला ही रूठकर वन चला गया हो उसके पिताकी क्या दशा होती होगी, इसका अनुभव दूसरा कौन कर सकता है। नारदजी तो सर्वज्ञ थे। वे समझ गये राजा दुःखी हैं। अब तो राजा से घनिष्ट सम्बन्ध हो गया। शिष्य का पिता है उसकी भी चिन्ता करना अत्यावश्यक है, अतः कृपालु मुनि उसी क्षण योग बल से राजा के महलों में पहुँच गये। न द्वारपाल को पता चला न किसी सेवक को। अन्तःपुर में भीतर सहसा अपने सम्मुख देवर्षि भगवान् को देखकर राजा संभ्रम के सहित अपने सिंहासन से उठकर खड़े हो गये और चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया। इस अवस्था में भगवान् नारद को पाकर राजा का हृदय भर आया। पुरोहित को बुलाकर उन्होंने विधिवत् पाद्य अर्घ्यादि द्वारा मुनि की पूजा की, उन्हें गो अर्पण की और विविध भाँति से स्तुति की। राजा की पूजा को शास्त्रीय विधि से स्वीकार करके हँसते हुए भगवान् नारद बोले—"राजन् आज आप अत्यन्त ही उदास दिखायी देते हो, किसी गहरी चिन्ता में निमग्न से प्रतीत होते हो। क्या बात है ? तुम अपनी चिन्ता का कारण मुझे बताओ। अपने दुःख का समाचार सुनाओ।"

अत्यंत दुःख के स्वर में राजा बोले—"भगवन् ! क्या बताऊँ,

यह गृहस्थी चिन्ताओं का घर और दुःख का सागर ही है। इसमें नित्य नयी चिन्ता नये दुःख लगे ही रहते हैं।"

नारदजी ने स्नेहपूर्वक कहा—"बात तो बताओ बिना कारण के तो कार्य होता नहीं। त्रिवर्ग का उत्पादन करना यही गृहस्थ का धर्म है। आपके धार्मिक कार्यों में तो कोई व्याघात नहीं हुआ ? आपका अग्निहोत्र आदि तो भली-भाँति होता है। पुरोहित आपकी मगल कामना के लिये देवपूजन और अग्निपरिचर्या तो विधिवत् करते हैं न ? आपका दानाध्यक्ष सदा सत्पात्रों को दान देता है न ? अर्थसचय तो भली भाँति होता है ? कोष में पर्याप्त धन तो है ? किसी शत्रु का भय तो नहीं ? प्रजा समय पर शुल्कादि देती है न ? आपकी रानियाँ आपके वश में हैं न ? वे सत्कुल में उत्पन्न अच्छे स्वभाव की तो हैं ? सदा आपकी वशवर्तिनी तो रहती हैं ?"

महाराज ने अत्यन्त ही दुःख के स्वर में कहा—"यह सब तो भगवन् ! ठीक ही है, सब आपकी कृपा है। त्रिवर्गों का व्याघात मेरे दुःख का कारण नहीं है। मुझसे एक पाप बन गया है। उस पाप के ही कारण मैं जल रहा हूँ। अपने किये का फल भोग रहा हूँ।"

नारदजी ने कहा—"बात तो बताओ, क्या बात है ?"

आँसू बहाते हुए राजा ने कहा—"क्या बताऊँ, महाराज ! बताने योग्य बात हो तो बताऊँ, वह तो ऐसा क्रूर कर्म है कि कहने में भी लज्जा लगती है। मेरा एक बचा था, ५ वर्ष का। वैसे ही मैंने अपना नीचतावश उसे उसकी माता के सहित घर से निकाल दिया था। वहाँ अपनी माँ के प्रेम को पाकर महलों से पृथक् रहकर निर्वासित जीवन बिता रहा था। बड़ा बुद्धिमान्, बड़ा सुशील, बड़ा होनहार वह बालक था। अब तक तो वह

अपनी माँ के समीप रहता भी था। आज वह नगर को छोड़कर भी चला गया।"

अनजान की भाँति नारदजी पूछने लगे—"कहाँ चला गया?"

महाराज बोले—"अब महाराज, क्या पता कहाँ चला गया। हाय! मेरे पाप से ही ऐसा अनर्थ हुआ। फूल की तरह सुकुमार मेरा बच्चा। कभी घर से बाहर निकला नहीं। पैदल चलने का उसे अभ्यास नहीं। चलते चलते थक गया होगा। धूप के कारण उसका मनोहर मुख मलिन हो गया होगा। भूख प्यास से दुःखी होगा वन में उसे कौन खाने को देता होगा। कौन उसकी बात पूछता होगा। निर्जन वन में थककर कहीं पेड़ के नीचे बैठ गया होगा, या चल रहा होगा। अरण्य मे विविध प्रकार के हिंसक जन्तु होते हैं, किसी सिंह व्याघ्र के सामने पड़ गया होगा, तो वह उसे खा गया होगा। वन में उस अनाथ बालक की रक्षा कौन करता होगा। बडा पापी हूँ, बड़ा नीच हूँ, जो अपने पुत्र की हत्या का कारण बन गया।"

दुःखी पुरुष से उसके दुःख के सम्बन्ध की बातें पूछने से उसे शान्ति होती है। अपना दुःख कहते-कहते चित्त हलका होता है। दुःख का आवेग कम होता है। इसीलिये दुःख में अपने स्नेही आते हैं और दुःख की बातें करके उसके हृदय को हलका करते हैं। इसीलिये बात चलाने को अनजान की तरह नारदजी खोद-खोदकर महाराज से सब बातें पूछने लगे। वे बोले—"बात क्या थी, क्यों चला गया वह?"

महाराज बोले—"भगवन्! क्या बताऊँ कोई बड़ी बात भी नहीं थी। बच्चा मेरी गोद में चढ़ना चाहता था। मैंने गोदी में उसे नहीं लिया ऊपर चढ़ने से रोक दिया।"

नारदजी आश्चर्य की मुद्रा दिखाते हुए बोले—"अपने सगे बच्चे को गोदी में चढ़ने से आपने रोक क्यों दिया ?"

राजा शीघ्रता से बोले—"मेरी नीचता, मेरी कामुकता ही इसका प्रधान कारण है। मैं अपनी स्त्री का क्रीड़ामृग बना हुआ हूँ। वह मुझे जैसे नचाती है, वैसे नाचता हूँ, जहाँ बिठाती है वहाँ बैठता हूँ, जो करने को कहती है, वही करता हूँ, नहीं तो प्रेम से गोद में आने वाले बच्चे को कौन पुरुष रोकेगा ? कौन अपने बच्चे का तिरस्कार करके उसके हृदय को चकनाचूर कर देगा ?" इतना कहकर महाराज बच्चों की भाँति फूट-फूटकर रोने लगे।

राजा को इस प्रकार दुःखी देखकर नारदजी हँसते हुए कहने लगे—"अरे राजन्! आप इतने बुद्धिमान् होकर इस प्रकार सोच करते हैं, यह आपको उचित नहीं। कौन किसका मान करता है, कौन अपमान ? प्रारब्ध के वशीभूत होकर सभी व्यापार कर रहे हैं। सभी अपने पूर्वकृत् कर्मों का फल भोग रहे हैं। यह आपका भ्रम है कि मैं उसकी रक्षा करता था, वहाँ वन में कौन उसे खाने को देगा। भगवान् तो सर्वत्र हैं, सबकी वे ही रक्षा करते हैं। जिसकी मृत्यु आ गयी है, घर में भाँति-भाँति के उपचार करने पर भी मर जाता है। जिसका काल नहीं आया है उसे चाहे आप घोर जगल में ले जाकर सिंह के मुख में भी छोड़ दो तो भी बच जायगा।"

राजा बोले—"हाँ, महाराज! यह तो ठीक ही है, किन्तु बच्चा अभी बहुत छोटा-सा है ५ ही वर्ष का तो है। अभी अबोध है।"

हँसते हुए नारदजी बोले—"अजी राजन्! आप उस बालक के प्रभाव को क्या जानें। वह ऐसा वैसा सामान्य बालक नहीं है। वह ऐसा दुष्कर कार्य करेगा कि, उसका यश सम्पूर्ण विश्व में

व्याप्त हो जायगा। उसके चरित्र को सुनकर असंख्यों भक्त इस असार संसार के पार पहुँच जायँगे। देवता भी उसके यश को गायँगे, शत्रु भी उसे अपनायँगे।"

राजा ने उत्सुकता से पूछा—"भगवन्! आपने उसे देखा है क्या? आप उसका कुछ पता ठिकाना जानते हों तो मुझे बतावें मैं वहाँ जाऊँगा और जैसे भी होगा वैसे ही उसे मनाकर यहाँ लाऊँगा!"

नारदजी बोले—"महाराज! उसे आप लौटा लाने का विचार तो दें छोड़। उसे अपना काम करने दें। कुछ काल के पश्चात् वह अपना कार्य पूरा करके स्वतः आपके समीप आ जायगा। वह ऐसा कठिन कार्य करेगा कि जिसे लोकपाल भी नहीं कर सकते। उसका यश सम्पूर्ण भूमडल पर फैल जायगा।" मैंने ही उसे मधुवन भेजा है, उपासना की पद्धति बतायी है, उसे भजन करने दो। तुम अपने मनसे उसके प्रति बुरे भाव निकाल दो। वह तुम्हारा नाम अजर-अमर बना देगा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इतना सुनते ही राजा को परम हर्ष हुआ। वे इतने प्रमुदित हुए कि महाराज आगे कुछ कह भी न सके।"

छप्पय

शिक्षा दीक्षा पाइ गमन की आज्ञा लीन्हीं।
अति प्रसन्न ध्रुव भये दण्डवत चरननि कीन्हीं॥
मुनि सिर पर कर धर्यो दई आज्ञा हिय हरषे।
दृढ़प्रतिज्ञ है चले सुमन नभतें बहु बरषे॥
करि प्रदक्षिणा प्रेमतें, बार बार बिनती करी।
ध्रुव तप हित वन चलि दये, तनु पुलकित सुमिरत हरी॥

पुत्र ध्रुव की चिन्ता में निमग्न महाराज उत्तानपाद

[२२७]

इति देवर्षिणा प्रोक्तं विश्रुत्य जगतीपतिः ।
राजलक्ष्मीमनादृत्य पुत्रमेवान्वचिन्तयत् ॥*
(श्री भा० ४ स्क० ८ अ० ७० श्लो०)

छप्पय

इत सोचे उत्तानपाद नृप महलनिमाँही ।
क्यों गोदी में चढ़त पुत्रकूँ लीयो नाहीं ॥
हाय ! कुमति मन बसी फूल-सो लाल गँवायो ।
यों सोचत अति दुखित कमलमुख नृप कुम्हिलायो ॥
ध्रुवकूँ इत करिकैं विदा, नारद मुनि नृप ढिँग गये ।
विधिवत् मुनि पूजा करी, अति हर्षित मन में भये ॥

पाँच भूत हैं उनके पाँच विषय हैं, पाँच ही तन्मात्राएँ। संसारी सभी विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन पाँचों के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। आप जितने भी संसारी विषय भोगेंगे चक्षु, कान, रस घ्राण और त्वचा इनसे ही भोगेंगे। सुन्दर-

* मैत्रेयमुनि कहते हैं— 'विदुरजी ! जगतपति महाराज उत्तानपाद देवर्षि नारदजी के मुख से यह बात सुनकर राजलक्ष्मी का अनादर करके दिनरात्रि अपने पुत्र ध्रुव की ही चिन्ता में निमग्न रहने लगे।"

सुन्दर वस्तुओं को देखकर प्रसन्न होना यह आँखों का धर्म है, रूप के अन्तर्गत सभी सौन्दर्य सुख आ जाते हैं। स्तुति, गायन तथा अन्य भी मधुर शब्दों द्वारा होने वाला तोष, शब्द सम्बन्धी कर्णेन्द्रिय का विषय है। यावन्मात्र खट्टे, मीठे, चरपरे, नमकीन, कड़वे और कषाय पदार्थ हैं उनका स्वाद रसना से लेते हैं। जितने सुन्दर सुगन्धित पदार्थ हैं। जितने सुखद मुलायम गुलगुले त्वचा को प्रिय लगने वाले पदार्थ हैं उनका उपयोग हम स्पर्शेन्द्रिय से करते हैं। ये पाँचों ही विषय सुन्दर नारी के शरीर में एकत्र रहते हैं। किसी पदार्थ में एक विषय, किसी में दो, किसी में तीन। कोई सुनने मे मधुर लगता है, किन्तु देखने में अच्छा नहीं। कोयल की वाणी प्यारी है, अन्य इन्द्रियों के लिये वह सामान्य। कुँदरू या करीर के फल पेंचू, देखने मे लाल-लाल बड़े ही सुन्दर मालूम पड़ते हैं; किन्तु उन्हें खाओ या सूंघो तो चित्त बिगड़ जायगा। ऊख का गन्ना देखने में या स्पर्श में उतना सुखद नहीं किन्तु छीलकर दाँतों तले दबाओ तो स्वर्ग चार अंगुल ही दूर रह जायगा। आलू हैं, परवर हैं, कच्चे सेव हैं, देखने में सूँघने में उतने भले नहीं लगते, स्पर्श भी कठोर है, किन्तु उनका साग बनाकर पराठों से खाओ तो फिर स्वर्ग यहीं पृथ्वी पर उतर आता है। आककी बौंडी की रुई का स्पर्श बड़ा सुखद है। किन्तु उसकी गंध रूप, रस आदि अत्यन्त ही दुखद है। नारी का शब्द भी मधुर है, रूप भी चित्ताकर्षक है, रसना को भी तृप्तिकर है इसी प्रकार गन्ध और स्पर्श भी मोहक है। शास्त्रकारों ने दो ही आनन्द माने हैं, या तो विषयानन्द या ब्रह्मानन्द। विषयी लोगों के लिये सबसे सुखद चिन्तन है कामिनी का। यदि काम धर्मानुकूल है तब तो उसकी मर्यादा होती है, जहाँ धर्म को त्यागकर काम स्वच्छन्द हो गया वहाँ तो फिर पग-पग पतन है। शास्त्रकारों ने काम का सेवन मर्यादा में रहकर धर्मपूर्वक करने की

ही आज्ञा दी है। खूँटा पर बँधी गौ को जो देंगे वही खायेगी मर्यादा में रहेगी। चरने भी छोड़ेंगे तो भी ग्वाले के साथ। जहाँ उसने दूसरे के खेत की ओर लालचभरी दृष्टि डाली वहीं ग्वाला उसे बरज देता है, किन्तु जो गौ स्वच्छन्द हो गयी है, वह मर्यादा में कैसे रहेगी। साधारण घास से उसकी तृप्ति नहीं होती, वह तो नयी-नयी घास पर मुँह मारती है और सबकी हानि करती है। विषयानन्द मोहक तो अवश्य है, जीवों की उसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति है, किन्तु वह क्षणिक है, नाशवान् है, उसका परिणाम दुखद है। ब्रह्मानन्द शाश्वत है, नित्य है और परमानन्द का अनुभव कराने वाला है। जिन्हें किसी भी कारण से विषयों से विराग हो गया है, वे धन्य हैं, बड़भागी हैं, विषयी देवताओं के भी बन्दनीय पूजनीय और प्रातः स्मरणीय हैं।

मैत्रेयमुनि कहते हैं—"विदुरजी! यह निश्चय नहीं कहा जाता, कि मनुष्य को किस कारण से विषयों से विराग हो जाय। कभी-कभी जीवन भर घोर आपत्तियाँ आने पर भी विराग नहीं होता, कभी तनिक-सी ठेस लगने पर विषय बुरे लगने लगते हैं। पके हुए फोड़ों में सुई चुभाते ही पीव निकल जाता है और पीर चली जाती है। कच्चे फोड़े को बलपूर्वक फोड़े भी तो भरिया–फूटा फोड़ा–हो जाता है। रूपजन्य आसक्ति सदा नहीं रहती, क्योंकि रूप भी परिवर्तनशील है। आज जो सुन्दर है, वही कल कुरूप हो जाता है। सौन्दर्य नष्ट हो जाने पर आकर्षण-शक्ति भी नहीं रहती। किसी के हृदय को अत्यन्त ही अप्रिय घटना के कारण भी सांसारिक रूपों से विराग हो जाता है। ध्रुवजी के बन चले जाने से महाराज उत्तानपाद का मोह दूर हो गया। पश्चात्ताप रूपी मलनाशक पदार्थ ने उनके हृदय को निर्मल बना दिया। नारदजी के मुख से सब समाचार सुनकर महाराज ने अधीरता के साथ कहा—"दयालो! प्रभो! क्या मैं

जीवन में फिर अपने प्यारे दुलारे पुत्र का मुँह देख सकूँगा ? मैंने उसके साथ क्रूरता तो ऐसी की है, कि अपने काले मुँह को लेकर उसके सम्मुख जाने का तो मुझे अधिकार नहीं हैं। फिर भी पिता की आत्मा ही ठहरी। मुझे ऐसी ही ग्लानि हो रही है, कि आत्म हत्या कर लूँ, किसी को भी अपना कलुषित मुख न दिखाऊँ, किन्तु जीवन में एक बार बस एक ही बार मैं अपने बच्चे का मुख देखना चाहता हूँ। इसी से मरने की इच्छा होने पर भी मैं मरना नहीं चाहता।"

नारद जी ने स्नेह से कहा—"राजन्! आप इतने बुद्धिमान होकर ये कैसी भूली-भूली बातें कर रहे हैं, आप मेरे बचनों पर विश्वास करें। आपका पुत्र आवेगा। अवश्य आवेगा और शीघ्र लौटकर आपके चरणों को पकड़ेगा। उसके मन में आपके प्रति कोई अन्यथा भाव नहीं। आप शीघ्र ही अपने प्यारे बच्चे को हृदय से लगावेंगे। अब वह ऐसा महापुरुष होकर लौटेगा कि देवता भी उसकी वन्दना करेंगे।"

राजा ने अधीरता से पूछा—"प्रभो! तब तक मैं क्या करूँ ?"

नारदजी ने कहा—"तुम भी भगवान् का चिन्तन करो अथवा भगवान् के भक्तों का चिन्तन करो। भगवान् ने बार बार अपने श्री मुख से आज्ञा दी है, कि मेरा भक्त मुझसे भी श्रेष्ठ है। जो मेरी पूजा करता है और भक्तों से द्वेष रखता है उस आदमी की पूजा को मैं कभी स्वीकार नहीं करता। जिन भक्तों के हृदय में भगवान् सदा वास करते रहते हैं, उनका चिन्तन करने से तो भगवान् बिना बुलाये हृदय में चले आते हैं। तुम ध्रुव ही की चिन्ता करो। ध्रुव से बढ़कर संसार में ऐसा भक्त कौन होगा ?"

इतना कहकर नारदजी ने अपनी वीणा उठायी और चल

दिये। राजा ने श्रद्धा भक्ति सहित उनके पैर पकड़े। क्षण भर में वे अदृश्य हो गये।

नारदजी के चले जाने पर राजा को ध्रुव की माँ की याद आयी। उनका हृदय फटने लगा। वे उसी समय नगे पैरों अपने सिंहासन से उठे। बिना नोकर चाकर लिये बिना किसी से कहे वे सीधे महारानी सुनीति के निवास की ओर चले। सुरुचि का हृदय भी ग्लानि से भर गया। हाय, मैंने बच्चे को कैसी कैसी कठिन बातें कह दीं। इन सब अनर्थों की जड मैं ही हूँ। मेरे ही कारण राजा इतने दुःखी हैं। महारानी सुनीति निर्वासिता बनी हुई हैं। ध्रुव बालक होकर भी मेरे कारण वनों में ठोकर खा रहा है। वह भी जैसे बैठी थीं वैसे ही महाराज के पीछे पीछे चलीं।

महाराज का हृदय फट रहा था वे ग्लानि, लज्जा और सताप के कारण विह्वल हो रहे थे, उन्हें अपनी शरीर की सुधि नहीं थी। अन्तःपुर के दास दासी चकित थे। वे महाराज का अनुगमन कर रहे थे। सुनीति के द्वार पर वे ठहर गये। उन्होंने बूढी दासी से कहा महारानी को खबर कर दो मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ। दासिया ने दौडकर यह समाचार महारानी सुनीति को दिया। पुत्र शोक से व्याकुल बैठी हुई उन देवी ने जब यह समाचार सुना तो वे सहम गयीं उनका हृदय भर आया। इतने ही में वे क्या देखतीं हैं, कि आँखों से आँसू बहाते लडखडाते, पछताते, अस्त व्यस्त भाव से पागलों की तरह महाराज चले आ रहे हैं। महारानी ज्यों ही आदर करने को उठना चाहती थीं त्यों ही दौडकर महाराज उनके पैरों पर गिर पड़े। दोनों का ही हृदय भर रहा था दोनों के ही आँखों से अश्रुओं का प्रवाह चल चल रहा था। दोनों ही बेसुध थे, दोनों ही प्रेम के कारण लौकिक जगत् से ऊपर उठे थे। महारानी ने रोते रोते अपने पैरों

को छुड़ाते हुए उन्हें अपने सिर पर रखते हुए भर्राये कण्ठ से कहा—"महाराज ! आप मेरे ऊपर यह पाप क्यों चढ़ा रहे हैं। मुझे नरक भेजने का यह उपाय क्यों कर रहे हैं। जिस स्त्री का पति उसके सामने दीन हो पैरों पर पड़े उस स्त्री को धिक्कार है, वह अवश्य ही यमराज के दूतों द्वारा नरक की अग्नि में पकायी जायगी। प्रभो ! आप मेरे देवता हैं। आप यह अनुचित कार्य न करें।"

रोते रोते महाराज ने कहा—"देवि ! तुम मानवी नहीं स्वर्गीय ललना हो। भगवती ! मैंने बड़ा पाप किया है, मैंने तुम्हारे साथ ऐसा अन्याय किया है कि वह कभी भी क्षमा नहीं हो सकता। मुझे तुमसे क्षमा माँगने में भी लज्जा आ रही है। मैं तो तुम्हें मुँह दिखाने योग्य भी नहीं था, किन्तु तुम्हारे साधु स्वभाव को स्मरण करके मैंने तुम्हारी शरण में आने का दुस्साहस किया। किन शब्दों में मैं तुमसे क्षमा माँगू ?"

देवी सुनीति ने आँसू पोंछते हुए कहा—"महाराज ! आप मेरे ईश्वर हैं। भगवान् हैं, परमेश्वर हैं। आपकी प्रसन्नता में ही मुझे प्रसन्नता है। मैं तो जन्मजन्मों में आपकी दासी रही हूँ और आप जिस लोक में भी पधारेंगे वहीं आपकी किंकरी बनकर आपके पीछे रहूँगी। मेरे सर्वस्व आप हैं, सेवकों का अपना तो कुछ है ही नहीं। आप बार-बार ऐसी बात न कहें।"

राजा की हिचकियाँ बँध गयी थीं। रोते रोते वे बालकों की भाँति बोले—"मैंने तुम्हारे इकलौते पुत्र को घर से निकाल दिया उसे अनाथ बना दिया।"

रानी ने बड़े साहस के साथ कहा—"महाराज ! आप यह कैसी बात कह रहे हैं। पतिव्रता स्त्री के लिये पुत्र का कोई मूल्य नहीं। यदि उसका पति प्रसन्न है तो सहस्रों पुत्र उसे प्राप्त हो सकते हैं। यदि उसका पति असन्तुष्ट है, तो हजारों पुत्र भी उसके

लिये हेय हैं। हे मेरे जीवन सर्वस्व ! आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे ध्रुव की कोई चिन्ता नहीं। आपकी प्रसन्नता होने पर सैकड़ों ध्रुव हो सकते हैं।"

आज चिरकाल से बिछुड़े पति-पत्नी का ऐसा हृदय को हिला देने वाला सम्मिलन देखकर सुरुचि का हृदय भी फूट पडा और उसने भी दौड़कर अपनी बड़ी सौत के चरण पकड़े। सुनीति देवी ने अपने चरणों में सुरुचि को देखकर बल पूर्वक उसे उठा कर अपनी छाती से चिपका लिया। उठे हुए भरे हुए दोनों हृदय परस्पर में मिल गये, उनमें जो मवाद भरा हुआ था वह दोनों की रगड से फूटकर वह निकला। दोनों छाती से छाती मिलाकर एक दूसरी के गले में बाहु पाशों द्वारा आवद्ध हो रही थीं। सुरुचि बुरी तरह रो रही थी सुनीति ने उसके आँसू पोंछे। खिसके हुए अचल को अपने हाथ से सम्हाला। खुली हुई वैणी को कसकर उसके बाल सम्हालने लगी। रोते रोते सुरुचि ने कहा—"जीजी ! मैं पापिनी हूँ, हत्यारिनी हूँ, डाइन हूँ, किन्तु जैसी भी हूँ तुम्हारी दासी हूँ, सेविका हूँ, मेरे अपराधों को क्षमा कर देना।"

सुरुचि के आँसुओं को अपने अचल से पोंछते हुए सुनीति देवी बोलीं—"बहिन ! तुम कैसी बातें कर रही हो, तुम बड़ी भाग्यशालिनी हो, जो मेरे पति को सुख पहुँचा रही हो। उनकी प्रियतमा बना हुई हो। मैं तुम्हारे भाग्य की सराहना करती हूँ, कि तुम्हें पति परमेश्वर का सेवा का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। मेरे सुकृत कर्म थे मुझे थोडे ही दिन यह देवदुर्लभ अवसर प्राप्त हो सका। मेरे देवता को जिस सुख में सुख मिले उसी में हमें सन्तोष है।'

रोते रोते सुरुचि बोली—"जीजी जी ! यह पद तो आपका

थी, मैं तो आपकी दासी थी, मैंने अनधिकार चेष्टा की। आपको आपके पद से च्युत कर दिया। आप बड़ी हैं।"

बड़े स्नेह से सुनीति देवी बोलीं—ना बहिन! बड़ी होने से क्या हुआ! बड़ी वही जिसके गुणों से उसके पति प्रसन्न हो जायँ। हमारा तुम्हारा सबका एक ही कर्तव्य है, जैसे हो तैसे महाराज को सुखी रखना। तुम तो राजरानी हो, मेरे पति यदि किसी कूकरी को प्यार करते हैं तो वह भी हमारे लिये पूजनीय है, उसकी चरण धूलि को भी मैं सहर्ष सिर पर चढ़ाने को उद्यत हूँ।"

रोते-रोते सुरुचि ने कहा—"मेरे ही कारण आपका इकलौता लाड़ला अत्यन्त प्रेम से पाला हुआ पुत्र आज बनवासी बन गया। हाय! उस समय मेरी कैसी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। कैसे-कैसे कठोर वचन मैंने उससे कह दिये।"

देवी सुनीति उसके मुँह को पोंछकर बोलीं—"कोई ऐसी बात तो नहीं। जो तुमने बात कही थी, ठीक वही बात मैंने भी उससे कह दी। फिर राजा के सब पुत्र घर में थोड़े ही रहते हैं। मेरा एक पुत्र उत्तम तो यहाँ है। मेरे लिये जैसा ही ध्रुव वैसा ही उत्तम। ध्रुव भगवान् की सेवा करेगा। और उत्तम वृद्धावस्था में हमारी सुधि लेता रहेगा।"

ध्रुव का प्रसंग आते ही महाराज बड़े जोरों से 'बेटा ध्रुव!' कहकर पछाड़ खाकर गिर पड़े। दौड़कर महारानी सुनीति ने उन्हें उठाया और सुरुचि से बोलीं—"बहिन! महाराज पृथ्वी पर ही पड़े हैं यह ठीक नहीं है इन्हें इस शैया पर लिटा दो। दोनों ने महाराज को बलपूर्वक उठाकर शैया पर लिटाया। महाराज के नेत्रों से झर-झर आँसू बह रहे थे। वे बार-बार ध्रुव को ही याद कर रहे थे।

तब तो सुनीति देवी ने कहा—"महाराज! आप अपने पुत्र

के लिये इतने चिन्तित क्यों हो रहे हैं। भगवान् तो सर्वत्र हैं, वे उसकी अवश्य रक्षा करेंगे। अभी दासी ने मुझे आकर नारद भगवान् की कही हुई सब बातें बतायी हैं। वे देवर्षि सर्वज्ञ हैं। भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों की बात जानते हैं। उनका कथन कभी असत्य नहीं हो सकता। उनका उपदेश कभी व्यर्थ नहीं जा सकता। आपका पुत्र अवश्य आवेगा! शीघ्र ही आवेगा और सिद्ध होकर आवेगा। आप इसमें अणुमात्र भी संदेह न करें। नारदजी के वचनों पर तनिक भी अविश्वास न करें। बहुत शीघ्र ही आप अपने बच्चे को अपने पैरों में पड़ा हुआ देखेंगे। तब आप उसके सिर को सूँघकर जितना चाहे प्यार करें।"

इस प्रकार अनेक बातें कहकर सुनीति देवी ने राजा को धैर्य बँधाया। सुरुचि देवी ने कहा—"जीजी! चलो अपने स्थान को सम्हालो। आप महाराज की सेवा करें। मैं आपकी सेवा करूँगी। आप महाराज की जाया हैं मैं आपकी सेविका हूँ।"

महारानी सुनीति ने बड़ी सरलता से कहा—"चलो बहिन! मुझे कोई आग्रह थोड़े ही है। मेरे देवता जहाँ मुझे रखेंगे वहीं मैं रहूँगी। हम दोनों ही महाराज की दासी हैं, दोनों ही मिल-कर महाराज का कैंकर्य करेंगी। चलो, यहाँ महाराज को कष्ट भी हो रहा है, उनके अनुरूप एक भी वस्तु यहाँ नहीं है।"

महाराज ने कहा—"मैं इसी मैले बिस्तरे पर अब लेटूँगा जब तक ध्रुव नहीं आ जाता। इस मैले तकिये में से ध्रुव के बालों की गन्ध आ रही है। वह इसी मैले बिस्तरे पर अपनी माँ के साथ सोता होगा। इस पर मुझे बड़ा सुख मिल रहा है। ध्रुव याद आ रहा है। उसके शरीर की गन्ध से मुझे आत्मतोष हो रहा है।" महाराज की आज्ञा से बिस्तरा भी चला। दोनों रानियाँ एक ही पालकी में संग बैठकर महलों में आयीं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! त्याग में कैसा जादू है।

यदि ध्रुव राज्य के लिये हठ करते तो राजा क्रोध करके उसे बंदी बना लेते, गृहकलह हो जाती। जब वे इन सबको तुच्छ समझकर—लात मारकर—चले गये, तब राजा की, विमाता की, सबकी बुद्धि बदल गयी। इससे यही परिणाम निकलता है, कि विषयों के संग्रह के आग्रह में दुःख, कलह, संताप और विषाद है। त्याग में सुख, शांति, प्रेम, और एकत्व की भावना है। इस प्रकार राजा निरन्तर ध्रुव का ही चिंतन करते हुए उसके आने की प्रतीक्षा करने लगे। दोनों रानियाँ सौतियाडाह, ईर्ष्या छोड़कर सगी बहिन की भाँति सुखपूर्वक रहने लगीं।"

छप्पय

कहि सब सुत सम्वाद गये अन्तर्हित मुनिवर।
नृप हिय फाटक लग्यो गये ध्रुव की माता घर॥
परे पैर झट खींचि देवि चरननि लिपटानी।
सुरुचि स्वच्छ हिय कही सेविका हौं तुम रानी॥
त्याग बिना सुख होहि नहिँ, त्याग प्रेम विकसित करत।
गृह तजि ध्रुव जब बन गये, तब तीनों हिल मिलि रहत॥

मधुवन में ध्रुवजी

[२२८]

तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम् ।
समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम् ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ८ अ० ७१ श्लो०)

छप्पय

इत ध्रुव आयसु पाइ गये पावन मधुवन में ।
अधिकी चटपटी लगी कृष्ण दरशन की मनमें ॥
कालिन्दी के कूल पहुँचि अतिशय सुख पायो ।
असित सलिलमें न्हाय रवि दिन कछु नहिं खायो ॥
तरणि तनूजा तट बसहिं, हिय लागी लौ श्यामतें ।
अब तक वह थल ख्यात है 'ध्रुव टीले' के नामतें ॥

शब्द नित्य है, शब्द नाश नहीं होता, वह आकाश मंडल में बिखर जाता है, किसी यन्त्र विशेष से शब्द को बिखरने न दें, तो चाहे जहाँ से चाहे जहाँ की बातें सुन सकते हैं। इसी प्रकार भाव नित्य है, हम अपने मन में जैसी भावना करते हैं,

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इधर ध्रुवजी मधुवन में पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने बड़ी सावधानी से स्नान किया और उस रात्रि में बिना कुछ खाये ही रह गये। दूसरे दिन से भगवान् नारद ऋषि के उपदेश से वे एकाग्रचित्त होकर परम पुरुष श्रीमन्नारायण की परिचर्या करने लगे।"

ऊहापोह करते हैं, वैसा ही वहाँ का वायु मण्डल बन जाता है। हमारे विचार ही प्रभु की प्रार्थना हैं, हम निरन्तर जैसे विचार करते रहेंगे, वैसी ही भावना बनेगी। तदनुरूप ही फल प्राप्त होगा। तभी तो बार-बार कहा गया है। आचार विचार सदा शुद्ध रखो। बुरी बात मन से भी मत सोचो। तुम जैसी ही बातें सोचोगे, अपने आस पास का विचार मंडल भी वैसा ही बना लोगे। कार्य जितना ही उत्कृष्ट होगा, उसके भाव भी उतने ही स्थायी होंगे। बड़े-बड़े तीर्थों में महापुरुष रहते थे, नित्य ही सत् सग होता रहता था। वेदाध्ययन, शास्त्र विचार, सदाचार पर वाद विवाद भाँति-भाँति के यज्ञ याग होते रहते थे। उनकी शुद्ध भावना अब तक विद्यमान हैं। अब तक वहाँ जाने से चित्त शान्त होता है, मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। इसीलिये जिस प्रकार काल का और पात्र का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार देश का भी प्रभाव पड़ता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! भगवान् नारदजी से आज्ञा लेकर उनकी वन्दना और प्रदक्षिणा करके ध्रुव अपने पिता की राजधानी ब्रह्मावर्त से चल पड़े। वनों में होते हुए गगाजी के किनारे किनारे वे कुछ दूर तक चले। सूकर क्षेत्र (सोरों) के समीप से उन्होंने भगवती कालिन्दी का किनारा पकड़ा। यमुना जी के किनारे किनारे वे अनेक वनों को लाँघते हुए कुछ काल में उस मधुवन में पहुँचे जहाँ नित्य ही नन्द नन्दन का निवास है। वहाँ के चर अचर सभी चिन्मय हैं। जहाँ की भूमि प्रभु के पाद पद्मों की पुण्य पराग से पावनतम हो गयी है। जहाँ पर सूर्यतनया अत्यन्त ही वक्र होकर बही है जहाँ तुलसी के वृक्षों की भरमार है जहाँ मर्कट आदि आरण्यवासी जीव भी स्वच्छन्द होकर कृष्ण कृष्ण ही रटते हैं। जहाँ की द्रुमिलतायें भी चिकनी और रसमयी हैं। जो प्रेमियों की एकमात्र शरण है, उस मधुवन में पहुँचकर

ध्रुवजी को अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। अरण्य में अपनी प्रियतमाओं से घिरे केकी अपनी बडी-बड़ी पङ्खों को फैलाये नृत्य कर रहे थे, इधर ध्रुव का मन रूपी मत्त मयूर भी उन्हीं की ताल में ताल और स्वर में स्वर मिलाकर नाच रहा था। ध्रुवजी चलते-चलते थक गये थे। अब तक उन्हें चलने की चिन्ता थी, अब तो वे गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये, उनका आवागमन समाप्त हुआ। अपने उस निश्चित स्थान पर पहुँच गये जहाँ स्थिर होकर रहना था।

मधुवन में पहुँचकर उन्होने कृष्णप्रिया कालिन्दी के उस अघहारी सुन्दर स्वच्छ सलिल में अवगाहन किया, जो स्नानमात्र से प्राणियों के पापों को जला देता है। जो पाप भस्म करने में अपने पिता के सदृशी है, जिसने अपने कान्त श्रीकृष्ण की कान्ति के वर्ण को भी धारण कर रखा है। उस पिघले नील मणि के द्रव के समान जल में स्नान करके ध्रुवजी का चित्त स्वस्थ हो गया। तीर्थ में पहुँचकर एक दिन उपवास करना चाहिये इसीलिये उस रात्रि में उन्होंने कुछ भी नहीं खाया। केवल यमुना जल पान करके ही वे उस रात्रि में रहे। यमुनाजी के किनारे एक ऊँचे से स्थान को देखकर जहाँ बाढ़ में भी जल न जा सके, जो स्थान भाँति-भाँति के वृक्षों तथा लता गुल्मों से आवृत था वहीं उन्होंने अपना आसन जमाया।

प्रातःकाल हुआ। प्रातःकाल मे ही कलरव करके मधुवन के पशु-पक्षियों ने अपने नवागत श्रेष्ठ अतिथि का स्वागत सत्कार किया। वे पशु-पक्षी भी सभी सिद्ध ही थे, भाँति-भाँति के रूप रखकर वे उस पावन भूमि में वास कर रहे थे। भगवान् के पाने की इच्छा अनेकों जन्मों के सुकृतों से होती है। ऐसे सुकृतियों को देखकर सुकृति पुरुष परम प्रसन्न होते हैं, उनका मन मुकुर उनके दर्शनों से ही खिल उठता है। पक्षियों ने अपनी भाषा में ध्रुवजी

का जयघोष किया। ध्रुवजी भी मन्त्र मुग्ध की भाँति मधुवन की शोभा निरखते के निरखते ही रह गये।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हम तबसे सुन रहे हैं, आप मधुवन की प्रशंसा करते करते अघाते ही नहीं। भूमि तो सभी एक सी है। सभी भूमि गोपाल की। सर्वान्तर्यामी सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं, फिर आप मधुवन के इतने गीत क्यों गा रहे हैं? और नारदजी ने भी ध्रुवजी को मधुवन ही क्यों भेजा? कहीं भी रहकर भगवद् आराधना हो सकती थी? कृपा करके हमारी इस शंका समाधान कीजिये।"

यह सुनते ही सूतजी खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—"भगवन्! यह आपकी शंका तो है नहीं। आप जैसे सर्वज्ञ तो ऐसी शंका स्वप्न में भी नहीं कर सकते। आप साधारण लोगों के प्रतिनिधि होकर ऐसी शंका कर रहे हैं। यह ठीक है, सभी भूमि गोपाल की है, मनुष्य जहाँ चाहे वहीं भजन कर सकता है। यह भी सत्य है, कि सर्वान्तर्यामी प्रभु का सर्वत्र प्रभाव होता है। सगुण साकार भगवान् के चार रूप माने हैं। एक तो भगवान् के नाम, भगवान् के रूप, भगवान् की लीलाएँ और भगवान् के धाम। इन चारों में तत्वतः कोई भेद नहीं। चार में से किसी एक का भी निष्ठापूर्वक आश्रय ग्रहण करने से जीव संसार-सागर से पार हो सकता है। श्रीमथुरा, भगवान् का प्रधान धाम है, इसलिये नारदजी ने उन्हें भेजा कि वहाँ नाम स्मरण, रूपचिन्तन, लीलाकथन, श्रवण न भी हो तो धाम में वास तो होगा, धाम का वास भी अनन्त जन्मों के पुण्यों से प्राप्त होता है।

घर में अनेकों झंझट रहते हैं, अबके वह मर गया, वह लड़ पड़ा, वह अप्रसन्न हो गया, वह बीमार है, वे मिलने आये कल जा रहे हैं, परसों वे आ रहे हैं, इस प्रकार नित्य ही कुछ न कुछ लगा रहता है। इसलिये घर में रहकर निरन्तर भजन हो नहीं

सकता। वहाँ का वायुमण्डल चिन्तित बना रहता है, इसलिये ध्रुवजी को वन में भेजा कि घर से दूर रहने पर निश्चिन्त होकर भगवत् स्मरण चिन्तन करेंगे।

मथुरा भगवान् का धाम तो है ही, किन्तु अनादि काल से अब तक वहाँ असख्यों पुरुष विशुद्ध भावना लेकर जाते हैं। श्रद्धा भक्ति सहित तीर्थ भाव से पुण्यात्मा पुरुष निरन्तर जाते रहते हैं, उनकी भावना से भी वह पावन स्थल और भी पावन बन जाता है। इन सब शुभ भावनाओं वाले यात्रियों के भाव वहाँ के वायुमण्डल में साधक को स्वतः प्राप्त हो जाते है। यह मैं पहिले ही बता चुका हूँ, कि जहाँ जैसा आदमी रहा है, वहाँ उसके वैसे भाव वायुमण्डल में व्याप्त हो जाते हैं, जो भी वहाँ जाता है, उन पर उनका प्रभाव पड़ता है। आप किसी तपस्वी, सदाचारी, नियम व्रत परायण साधु की कुटी पर जायँ, वहाँ जाते ही चित्त स्वतः प्रसन्न हो जायगा। हृदय में एक प्रकार की अपूर्व शान्ति का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगेगा। इसके विपरीत आप किसी मद्यपी व्यभिचारी जुआरी या वेश्या के यहाँ जायँ तो वहाँ के वायुमडल में वैसा ही बातें घूमते रहने से आपके मन पर भी उसका कुछ न कुछ प्रभाव पड़ेगा। इस सम्बन्ध में मैं आपको एक छोटा सा दृष्टान्त सुनाता हूँ।"

किसी घोर वन में एक कुटी बनाकर दो डाकू रहते थे। वे लोगों का धन लूटते, हत्या करते, स्त्रियों को पकड़ते तथा सभी पाप करते थे। कालान्तर में वे लोग राजा के सेवकों द्वारा पकड़े गये और उन्हें शूली पर चढा दिया गया। कुटी कुछ काल तक वैसे ही खाली पड़ी रही।

कुछ काल के अनन्तर एक साधक किसी एकान्त स्थान की खोज करते हुए उसी अरण्य में आ पहुँचे। सुन्दर एकान्त स्थान, जल का सुपास और कन्दमूल फलों की बहुतायत देखकर साधक

ने वहाँ रहने का निश्चय किया। खँडहर पड़ी हुई कुटी के आस-पास सफाई की। कुटिया का कूड़ा करकट बाहर फेंका। पेड़ों की पत्तियाँ तथा घास बिछाकर आसन जमाया। आषाढ़ का महीना था। सहसा वर्षा आ गयी, साधक कुटिया के भीतर चले गये। इतने में ही एक यात्री अपनी नयी बहू को विदा कराके उधर से आ निकला। वर्षा के कारण वे दोनों भीग गये। दौड़कर उन्होंने साधु की शरण ली और वर्षा तक आश्रय चाहा। साधु ने दयावश उन्हें भीतर बैठने की अनुमति दे दी। साधु युवा थे, शरीर से हृष्ट पुष्ट थे। जब तक मनुष्य पूर्ण सिद्ध नहीं होता तब तक हृदय में कामवासना तो छिपी रहती है। अनुकूल अवसर पाने पर वह उमड़ आती है। पवित्र स्थानों में, गुरुजनों के समीप, देव मन्दिरों में यह शान्त रहती है। वहाँ के वायुमण्डल में तो हत्या, व्यभिचार, लूटपाट के भाव भर रहे थे। युवक साधक की भावना को भी बल मिला। उसने सोचा—"एकान्त स्थान है, यह आदमी भी निर्बल-सा है, इसकी स्त्री भी सुन्दरी है, वस्त्राभूषण से सुसज्जित है। क्यों न इस आदमी को मारकर इस स्त्री के आभूषणों को मैं छीन लूँ। यहाँ कौन देखने वाला है। जैसे मनुष्य विचारों को करता है, वैसे ही विचारों का ताँता लग जाता है और वैसे ही विचार आने से पूर्वकृत निश्चय की पुष्टि होती जाती है। साधु ने निश्चय कर लिया मैं इसे मार डालूँगा।

वर्षा समाप्त हुई, यात्री अपनी बहू को लेकर साधु से आज्ञा माँगकर चल दिया। थोड़ा आगे बढा था, कि साधु ने पुकारा—"खबरदार, आगे बढ़े तो, वहीं खडे हो जाओ।" यात्री के पैरों की मिट्टी खिसक गयी। वह समझ गया, साधु वेष में यह कोई डाकू है, आज अच्छे फँसे, इस अरण्य में कोई रक्षक भी नहीं। स्त्री थरथर काँप रही थी। क्या करते खड़े हो गये। साधु कुटी से निकला, उनके समीप पहुँचा, उसे दया आ गयी—"अरे, मैं

साधु होकर क्या कर रहा हूँ।" उन्हें भयभीत देखकर बोले—अच्छी बात है आप लोग जायँ डरें नहीं। यह कहकर साधु लौटकर कुटी में आ गया। वे यात्री अपनी गठरी मुटरी उठाकर चलने को उद्यत हुए। कुटी में पहुँचकर साधु को फिर उन्हीं विचारों की पुष्टि मिली। 'अरे, मैंने व्यर्थ उन्हें छोड़ दिया। इन्हें लूट ही लेना चाहिये।' फिर पुकारा—"आगे मत बढ़ो लौट आओ।" यात्री फिर सहम गया। साधु फिर निकला। फिर उसे दया आ गयी। ऐसे उसने ३-४ बार किया। तब तो यात्री ने साहस करके कहा—"आपको लूटना हो तो हमें लूट लीजिये, यह खेल क्यों कर रहे हैं?"

तब उस साधु ने कहा—"भैया, जब मैं इस कुटी में जाता हूँ, तब तो सोचता हूँ तुम्हें लूट लूँ, किन्तु जब बाहर आता हूँ, तो मेरा विचार बदल जाता है, इसका क्या कारण है?" यात्री बुद्धिमान् था, वह समझ गया। यह डाकू नहीं, इस पर वायुमण्डल का प्रभाव है। वह बोला—"स्वामिन्! आप जिस कुटी मे बैठे हैं पहिले इसमें बड़े क्रूरकर्मा दो डाकू रहते थे। उनके डर से कोई भी यात्री इधर से नहीं निकलता था। जब से वे दोनों पकड़कर शूली पर चढ़ा दिये गये तब से यह पथ निरापद हो गया था। लोग आने जाने लगे। आपको देखकर मैं समझ रहा था, आप भी कोई साधु वेषधारी डाकू हैं, किन्तु आपकी बातों से प्रतीत होता है आप डाकू नहीं। कच्चे साधक हैं, आप पर कुटी के वायुमंडल का असर पड़ा है। यहाँ के वातावरण में वे ही लूटपाट, हत्या, व्यभिचार के भाव भरे हैं। आप इस कलुषित भावनावाली कुटी का परित्याग कर दें, दूसरे किसी साधु सन्त के पवित्र स्थान में जाकर भजन करें।"

साधु के मन में यह बात बैठ गयी, वह उस यात्री के साथ ही चल पड़ा। उसे प्रेमपूर्वक पहुँचाकर उससे विदा होकर वह

किसी दूसरे साधु के आश्रम पर चला गया और वहाँ उनकी आज्ञा से उन्हीं की देख रेख में रहकर, भजन साधन करने लगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! स्थान प्रभाव ऐसा घातक होता है, अतः ऐसे स्थान मे जहाँ बुरे लोग रहते हों, स्त्री बच्चो की चिन्ता करने वाले अजितेन्द्रिय स्त्री लम्पट पुरुष या व्यभिचारिणी स्त्रियाँ रहती हों, वहाँ साधक को कभी भूलकर भी न रहना चाहिये। जहाँ तुलसी, आँवले, पीपर आदि के पवित्र वृक्ष न हों, जहाँ सत्सग का अभाव हो, जहाँ आस पास पापकर्मा मनुष्य बसते हों, साधक का ऐसे स्थान पर एक रात्रि भी निवास न करना चाहिये। रहना उन स्थानो पर चाहिये, जहाँ चित्त स्वतः ही शान्त हो जाय, गगा यमुना आदि पावन सरिताओं के तटों पर, शान्त एकान्त पवित्र वनो में, पुण्य तीर्थों मे, देवमन्दिरों मे, ऐसे साधु सन्तों के आश्रमो मे जहाँ नित्य भगवत् कथा होती हैं, नित्य त्रैलोक्य पावन मधुरातिधुर भगवन्नामों का निरन्तर कीर्तन होता हो, अग्निहोत्र हवन तथा वेदघोप होता हो, जहाँ निष्पाप छल कपट से रहित पुरुष वास करते हों। जहाँ तुलसीजी का वन हो, सालिग्राम भगवान् का नित्य पूजन होता हो, गौओं और ब्राह्मणों का निवास हो, ऐसे स्थानो में रहने से भजन में स्वतः प्रवृत्ति होती है। साधन म बल मिलता है और हृदय की कुत्सित भावनाएँ भी दबी रहती हैं। यही सब सोच समझकर सर्वज्ञ नारद मुनि ने ध्रुवजी को मधुवन भेजा। गुरुदेव के बिना साधन के विघ्नो को कौन दूर कर सकता है, उनके अतिरिक्त उत्तम स्थान का श्रेष्ठ साधन का निर्देष कर ही कौन सकता है, इसीलिये भाग्यशाली ध्रुव को घर से निकलते ही भगवान् नारदजी के दर्शन हो गये। उनसे साधन भजन की समुचित शिक्षा दीक्षा पाकर वे मधुवन में गये।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपने बड़े सुन्दर ढंग से हमें स्थान की पावनता का महत्व बताया। अब आप हमसे ध्रुवजी का आगे का चरित्र कहें।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाभाग ! नारदजी की आज्ञा से ध्रुवजी मधुवन में जाकर, जिस प्रकार घोर तप करने लगे, उसे मैं आपको बताऊँगा। जिस प्रकार भगवान् मैत्रेय ने विदुरजी के पूछने पर जैसे ध्रुव चरित्र सुनाया था, उसी को मैं आपको सुनाता हूँ, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

फल फूलनितें लदे नम्र पादप जहँ मनहर।
शुक पिक मत्त मयूर करें कोकिल कलरववर॥
स्वच्छ सलिलतें भरे सरोवर सुखकर जहँ तहँ।
तिनमें विकसित कमल भ्रमर-गन गूजें जिनमहँ॥
कालिन्दीकी कलित ध्वनि, सुनि सब भगि संशय गये।
ऐसे मधुवनमहँ निवसि, ध्रुवजी अति प्रमुदित भये॥

मधुवन में ध्रुवजी का घोर तप

[२२६]

सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम् ।
ध्यायन् भगवतो रूप नाद्राक्षीत् किञ्चनापरम् ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० ७७ श्लोक)

छप्पय

करहिं कठिन तप सतत चित्त प्रभु चरन लगायो ।
कछु दिन तीसर दिवस फेरि कछु छठवें खायो ॥
नौ दिन बारह दिवस अन्तमहँ भोजन त्याग्यो ।
वायु खाइके रहें ध्यान भगवद्महँ लाग्यो ॥
एक पैरतें ठूँठ सम, निश्चल ह्वैके थिर भये ।
सब थल निरखें श्यामकूँ, तन्मय हरिमें ह्वै गये ॥

सुवर्ण में जब मल मिल जाता है, तब उसे अग्नि में तपा के निर्मल बनाया जाता है। सुवर्ण में मक्खन में शहद में सबमें जन्म से ही मल लिपटा रहता है, उसे अग्नि-सस्कार करके ताप देकर विशुद्ध बनाया जाता है। मक्खन को तपाने से छाछ पृथक् हो जाती है, घृत पृथक्। छाछ निकलने से वह विशुद्ध आज्य घृत-

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी ! ध्रुवजी ने अपने मन को सब ओर से खींचकर हृदय में भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरण के आश्रय श्रीभगवान् के रूप का ध्यान करते हुए भगवान् के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु को वे नहीं देखते थे। अर्थात् उनकी दृष्टि भगवद्मय हो गयी।

बन जाता है। ताप के बिना शुद्धि नहीं। जीव के साथ अनादि कर्म वासनाओं का सयोग हो गया है, विशुद्ध से वह अशुद्ध सा बन गया है। मल, विक्षेप तथा आवरण से अन्तःकरण ऐसा ढक गया है कि उसे अपने सत्स्वरूप की विस्मृति हो गयी है। तप द्वारा जब मल पृथक् हो जाता है, तब शुद्ध स्वरूप में श्यामसुन्दर की झलक दिखायी देती है। वे मुस्कराते हुए इठलाते हुए हृदय के अज्ञान तिमिर को भगाते हुए प्रादुर्भूत होते हैं। पहिले भी थे, किन्तु धूलि से हृदय ढक जाने से उनका दर्शन नहीं होता था। धूलि पुछी दर्शन हुए, जीव का जीवत्व मिट गया, वह कृतार्थ हो गया, फिर वह संसारी न रहकर तदीय बन जाता है, उनका हो जाता है, उनमें ही घुल मिल जाता है, अभेद सम्बन्ध हो जाता है, जो अपना है, उनमें भेद होते हुए भी भेद नहीं है। यह शब्दों में व्यक्त करने की बात नहीं है, अनुभवगम्य विषय है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"हाँ, तो विदुरजी! मैं क्या बात कह रहा था भला?"

विदुरजी ने कहा—"महाराज, आप श्री ध्रुवजी का चरित्र सुना रहे थे, ध्रुवजी मधुवन में पहुँच गये, आप स्थान का प्रभाव बताकर ध्रुवजी को तपस्या का वर्णन करने को उद्यत हुए थे।"

मैत्रेयजी ने कहा—"विदुरजी! आप बड़े अच्छे श्रोता हैं, आप चित्त को इधर उधर नहीं जाने देते। विषय को गम्भीरता के साथ श्रवण करते हैं। हाँ, तो ध्रुवजी मधुवन में रहकर तप करने लगे।"

विदुरजी ने पूछा—"महाराज कैसा तप करने लगे?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! क्या बताऊँ कुछ पूछिये मत। ध्रुवजी की तपस्या तो अपूर्व थी। उन्होंने सर्वात्म-भाव से अपने को प्रभुपादपद्मों में समर्पित ही कर दिया था।

उनकी बाह्यवृत्ति नष्ट हो गयी थी, वे ध्यान में तदाकार हो गये थे।"

विदुरजी ने पूछा—"भगवन्! कुछ खाते-पीते भी थे?"

मैत्रेय मुनि ने कहा—"उनके खाने-पीने की आप कुछ न पूछिये। पहिले महीने तो वे तीन तीन दिन के पश्चात् वन से कन्द मूल फल आदि लाकर भगवान् का भोग लगाकर प्रसाद पाते थे।"

विदुरजी ने पूछा—"महाराज तीन दिन उनके भगवान् भी भूखे रहते होंगे?"

हँसकर मैत्रेय मुनि बोले—"जब भक्त ही भूखा है, तो भगवान् क्यों न भूखे रहेंगे। भगवान् की तो प्रतिज्ञा है, जो मुझे जैसे भजता है, मैं भी उसे वैसे ही भजा करता हूँ। शास्त्रकारों का भी यही वचन है—"मनुष्य जो अन्न खाता है, उसके देवता भी वैसा ही अन्न खाते हैं। तीन दिन तक वे भी बिना खाये निरन्तर भगवान् का ध्यान करते रहते थे, तो भगवान् भी बिना खाय चुपचाप उसके हृदय में बैठे उसी की चिन्ता करते रहते थे, कि मेरे भक्त का बिना खाये कुछ अनिष्ट न होने पावे। भगवान् तो बड़े दयालु हैं। उन्हें नित्य नये कौतुक सूझते हैं। कहीं उपवास कराके प्रसन्न होते हैं, किसी को बलपूर्वक तपस्या छुडाकर भाँति-भाँति के ५६ पदार्थों को खिलाते हैं। भक्त के हृदय मे बैठकर जो वे उससे कराते हैं उसे स्वयं भी करते हैं।"

विदुरजी ने कहा—"महाराज, तीसरे दिन भोजन करने से ध्रुवजी बहुत थक गये होंगे, पाँच वर्ष के बच्चे ही ठहरे। ५ वर्ष के बच्चे ७ बार खाते हैं।"

मैत्रेय मुनि ने कहा—"अजी विदुरजी! सुनते चलो अभी लीला, तुम तो अभी से घबडा गये। पहिले महीने में तीसरे दिन खाते थे, दूसरे महीने ६-६ दिन के पश्चात् भगवान् का भोग

लगने लगा और तीसरे महीने ९-९ दिन के अन्तर चौथे महीने १२ वें दिन।"

विदुरजी ने कहा—"महाराज, यह तो आप बड़ी कठिन बात कह रहे हैं, १२ वें दिन बिना खाये फल फूल लेने कैसे जाते होंगे ?"

मैत्रेय मुनि हँसकर बोले—"अजी, विदुरजी ! फल फूल की बातें अब जाने दो। कैथे, बेर आदि के फल तो उन्होंने एक महीने ही तीसरे-तीसरे दिन खाये थे। दूसरे महीने तो जिस वृक्ष के नीचे बैठे थे उसी के अपने आप सूखकर गिरे हुए पत्तों को छठे दिन खाते थे। तीसरे महीने ९ वें दिन केवल यमुनाजी का जल पीते थे, ८ दिन जल भी नहीं, चौथे महीने १२ वें दिन केवल वायु पीते थे।"

विदुरजी ने पूछा—"महाराज, वायु कैसे पीते थे ? वायु तो मनुष्य हर समय ही स्वासों के साथ पीता रहता है तो क्या १२ दिन तक वे स्वाँस भी नहीं लेते थे ?"

मैत्रेय मुनि बोले—"हाँ, वे स्वाँस भी नहीं लेते थे। प्राणों का उन्होंने निरोध कर लिया था। मन जब एकाग्र हो जाता है, तो स्वाँसों का चलना स्वतः बन्द हो जाता है। इसी प्रकार स्वाँस रुकने से मन भी स्वतः एकाग्र हो जाता है। समाधि में स्वाँस नहीं चलती, नख, बाल आदि बढ़ते हैं, मस्तक में उष्णता रहती है, शेष शरीर मृतवत् हो जाता है। जितने दिन का संकल्प करके समाधि लगाते हैं, उतने दिन के पश्चात् स्वतः खुल जाती है। फिर स्वाँसों की गति पूर्ववत् चलने लगती है, इसीलिये ध्रुवजी ने क्रम क्रम से अपनी स्थिति को बढ़ाया। पहिले महीने ३ दिन फिर ६ फिर ९ तब १२ दिन के पश्चात् उनकी समाधि खुलती। तब वे वायु को भरपेट पी लेते हैं। हम जो स्वाँस लेते हैं यह वायुपान नहीं है। स्वाँस प्रश्वास है। यह तो नाक से पेट में वायु जाती है,

फिर निकल आती है। जिसे वायुपान कहते हैं वह तो उसी मार्ग से पीते हैं जिससे अन्नपान भीतर जाता है। कभी-कभी उसी मार्ग से वायु भी निकलती है। जिसे उद्‌गार या डाकर कहते हैं। डाकर तो भीतर से आती है। उलटी डकार को ही वायुपान कहते हैं। जिस मार्ग से डकार आती है उसी मार्ग से बाहर की वायु को खींचकर अन्नपान की थैलियों को पूर्ण करके गुदा मार्ग को दृढ़ता से बन्द कर ले, अर्थात् मूलबन्ध बाँध ले जिससे अपान मार्ग से वायु निकल न जाय। फिर जालन्धर बंध बाँधकर ठोढ़ी को हृदय से लगाकर गले की नाड़ियों को तान दे, जिससे आँख, कान, नाक, मुँह मार्ग से वायु न निकले। बस, फिर वह जठर में स्थित वायु आहार का काम करती है, सब नाड़ियों में नवीन प्राणों का सचार करती रहती है। उससे मल तो बनता नहीं। इससे योगी को शौचादि की भी आवश्यकता नहीं रहती। यदि वह बैठा है, तो बैठा ही रहेगा, खड़ा है तो खड़ा ही रहेगा, लेटा है तो लेटा ही रहेगा। इस प्रकार पाँच महीने तक ध्रुवजी ने ऐसा किया। अब पाँचवे महीने उन्होंने स्वाँसों का निरोध ही कर लिया। अब वे कभी समाधि खोलते ही नहीं थे।

वे एक पैर से निश्चल भाव से खड़े हुए थे। न हिलते थे न डोलते थे दूर से ऐसे प्रतीत होते थे, कि किसी वृक्ष का सूखा ठूँठ खड़ा है। जैसे कोई निर्जीव पाषाण की प्रतिमा एक पैर से खड़ी हो। उनके हृदय मे सम्पूर्ण चराचर विश्व के स्वामी भगवान् वासुदेव विराजमान थे। उनका चित्त उन्हीं के चरणों मे तल्लीन था। मन उन्हीं के मनमोहिनी मूर्ति के ध्यान में मग्न था। न उन्हें ससार का भान था, न अपने शरीर की ही सुधि थी। वे तो ब्रह्मानन्द रूपी अमृत के सागर में गोते लगा रहे थे। बस, वे भगवान् को देख रहे थे, भगवान् उन्हें निहार रहे थे। ससारी प्रपच उनके चित्त से विलीन हो गया था।

उनके ऐसे घोर तप के कारण तीनों लोकों में हाहाकार मच गया। तीनों लोक थर थर काँपने लगे।

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"महाराज तपस्या कर रहे थे ध्रुवजी, प्राणों का निरोध उनका हो रहा था। त्रिलोकी के काँपने का क्या कारण हुआ? तीनों लोकों में हाहाकर क्यों मच गया?"

इस पर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! आप इस संसार में क्या देख रहे हैं?"

विदुरजी ने कहा—"भगवन्! इस संसार में तो हम बहुत-सी वस्तुएँ देख रहे हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती। मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, वृक्ष, घर, खेती बाजार, विविध प्रकार की खाने, सूँघने, देखने, छूने तथा सुनने की वस्तुएँ संसार में हैं, नद, नदी, सरोवर, समुद्र, कूप, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि वायु आकाश असंख्यो वस्तुएँ हैं।"

मैत्रेय मुनि बोले—"नाम और रूप के भेद से वस्तुएँ भिन्न-भिन्न दीखती हैं। इनमें से नाम रूप को निकाल दो तो पाँच भूत ही रह जायगे। ये लता, वृक्ष, शरीर या पाषाण सब पार्थिव हैं, पृथ्वी से बने हैं, नाम रूप मिटे सब पृथ्वी में मिल गये। जल कहीं का भी हो नदी, कूप समुद्र का सब एक ही है। वायु में सुगन्ध दुर्गन्ध है ही नहीं। संसर्ग से हो जाती है। वायु एक है। अग्नि, सूर्य, चन्द्र सभी में प्रकाश एक ही है। आकाश सर्वव्यापक है। यह सब पसारा पाँच भूतों का ही है। पाँच भूत तो जड है ये भी प्रकृति महत्त्व अहङ्कार आदि से उत्पन्न होते हैं। प्रकृति भी निराधार नहीं रह सकती। यह भी परमात्मा के आधार पर ही स्थित है। सबके आधार श्रीहरि ही हैं। श्रीहरि के बिना किसी की भी सत्ता नहीं। उन हरि को जिन्होंने हृदय मे धारण कर लिया वह तो वे हरिमय बन गये। जब उनकी अन्तरात्मा

सर्वात्मा के साथ मिल गयी तब तो सबके प्राण रुकने से लगे। सबके हृदय में ध्रुवजी के तप का प्रभाव पड़ा। भगवान् वासुदेव ही इस चराचर विश्व को धारण किये हैं, वे ही महतो महीयान् हैं, भारी से भारी हैं। जब इतने भारी हैं। जब इतने भारी बोझ को ध्रुवजी ने हृदय में रख लिया, तब तो वे आवश्यकता से अधिक गुरु—भारी हो गये। पृथ्वी पर यद्यपि वे एक अंगूठे के ही बल खड़े थे, किन्तु उस अंगूठे के भार को भी वसुन्धरा सहन करने में समर्थ न हुई। ध्रुवजी जिधर ही अंगूठा रखते उसी ओर पृथ्वी नव जाती। जैसे बहुत मोटा आदमी छोटी नौका में जिस ओर भी बैठ जाय उधर ही वह झुक जाती है। जैसे तराजू के पलड़े में भी अधिक बोझा रख दो वही झुक जायगा। दूसरा ऊपर उठ जायगा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! ध्रुवजी की घोर तपस्या से तीनों लोको में खलबली मच गयी। देवता और लोकपालों के भी दम घुटने लगे। वे समझ ही न सके यह नयी विपत्ति कहाँ से और कैसे सहसा आ गयी।"

छप्पय

रोके इन्द्रिय द्वार चित्त इत उत न चलायो।
विश्वम्भर हिय धारि ध्येय में ध्यान लगायो॥
रुकीं सबनिकी स्वाँस जीव सबई घबराये।
डगमग डोलें धरनि लोकपालहु अकुलाये॥
सोचें असमय में प्रलय, किहि कारन जग में भई।
हेतु कहा सहसा अबहिं, स्वाँस सबनिकी रुकि गई॥

—:—:—

ध्रुवजी के तप से संतप्त प्राणियों का प्रभु के पास जाना

[२३०]

तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो
द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया ।
लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशम्
सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम् ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० ८ अ० ८० श्लोक)

छप्पय

दीनबन्धु के द्वार गये दौरे देवादिक।
हाथ जोरि सब कहें प्रभो जग के प्रतिपालक॥
भयो कहा जिह देव! चराचर क्यों दुख पावें।
सबकी स्वाँस प्रस्वाँस क्यौं नहीं आवें जावें॥
शरणागत-वत्सल विभो! भवहारी सब भय हरहिं।
वेगि छुड़ावहु विपतितें, बार बार विनती करहिं॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—' विदुरजी! ध्रुवजी अपने समस्त इन्द्रिय द्वारों को रोककर अनन्य बुद्धि से उन विश्वात्मा श्रीहरि का जब ध्यान करने लगते, तो इससे सम्पूर्ण जीवों की स्वाँस प्रश्वास रुकने लगती, इसीलिये सब जीव लोकपालों को साथ लिये हुए शरणागतवत्सल भगवान् वासुदेव की शरण में गये।"

भगवान् अवतार कब लेते हैं, जब उनके भक्तों पर विपत्ति पड़ती है, भक्तों के दुखी होने से भगवान् दुखी होते हैं, क्योंकि भक्त तो उनकी आत्मा हैं। भगवान् और सब कुछ सह सकते हैं, किन्तु भक्तों के दुःख सहन करने में वे असमर्थ हैं। भक्तों के सन्ताप से उनका नवनीत के सदृश कोमलाति कोमल हृदय पिघल जाता है। उस समय उन्हें भी सन्ताप होता है। भगवान् के सन्तप्त होने पर विश्व सन्तप्त हो जाता है, क्योंकि वे विश्वमय हैं, विश्व उनसे भिन्न नहीं, चराचर की अन्तरात्मा में वे ही रम रहे हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब ध्रुवजी के स्वाँस-निरोध करने से संसार का साँस निरोध-सा होने लगा, तो सब जीवों में जो मुख्य-मुख्य शक्तिशाली जीव हैं, वे सब मिलकर लोकपालों के पास गये और अपनी विपत्ति की बात सुनायी। सब लोकपालों ने भी देखा तीनों लोक के प्राणी दुखी हैं, तब इन्द्रादिक लोकपाल मिलकर ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्माजी तो स्वयं कुछ करते धरते नहीं, उनके आधार तो श्रीहरि हैं, अतः नियमानुसार महादेवजी को साथ लिये, सभी देव महादेव लोकपाल मिलकर चराचर के स्वामी विष्णु भगवान् के समीप वैकुण्ठ में गये।

आज समस्त देवताओं लोकपालों और अन्य जीवों के इतने बड़े शिष्ट मंडल को आते देखकर सर्वान्तर्यामी चराचरा के स्वामी श्रीहरि उनसे पूछने लगे—"ब्रह्मादिक देवताओ! लोकपालो और अन्य जीवो! आज तुम किस कारण मेरे पास सब मिलकर आये हो? तुम सब लोगों के मुखमंडल कुम्हिलाये हुए क्यों हैं, मालूम होता है, तुम्हारे ऊपर कोई असामयिक विपत्ति सहसा आ गयी है।"

देवताओं ने कहा—"प्रभो ! सम्पूर्ण लोकों में रहने वाले चराचर जीवों की श्वास प्रश्वास की गति रुक सी गयी है।"

भगवान् ने पूछा—"किस कारण से ऐसा है ? इस स्वाँस निरोध के हेतु को तो बताओ ?"

देवताओं ने कहा—"भगवन् ! इसका कारण हम सब अभी तक समझ ही नहीं सके।"

भगवान् बोले—"भाई ! बिना कारण समझे हम कुछ उपाय कैसे कर सकते हैं ?"

देवताओ ने कहा—"प्रभो ! आप हमारी वचना न करें। आप सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी हैं। घट घटव्यापी हैं, आप से कौन सी बात छिपी है, आप तो विश्वमय हैं। शरणागतों की सदा रक्षा करते रहते हैं। हमें इस दुःख से छुड़ाइये और आप ही इस विपत्ति के कारण को बताइये।"

देवताओं की ऐसी कातर वाणी सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"देवताओ ! मैं इसका कारण जानता हूँ, चिन्ता की कोई बात नहीं यह कोई तमोमयी विपत्ति नहीं है। डरो मत। इससे तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट न होगा।"

देवताओं ने पूछा—"बात क्या है, सहसा सबकी स्वाँसों की गति रुद्ध क्यो हो गयी ?"

भगवान् बोले—"देखो, महाराज उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव मधुवन में तपस्या कर रहा है। तपस्या करते-करते उसने अपने चित्त को मुझमें तल्लीन कर दिया है।"

देवताओं ने कहा—"चित्त को उसने आप में तल्लीन कर दिया। यह तो ठीक ही किया, प्राणियों की स्वाँस क्यों रुक-सी गयी ?"

भगवान् बोले—"देखो, अब वह मुझमें तल्लीन हो गया है तो उसके प्राणो के निरोध से मेरे प्राण निरोध होने लगे और

मैं हूँ विश्वरूप। जब मेरे प्राण निरोध होंगे तो विश्व के प्राणों का निरोध होना तो स्वाभाविक ही है अतः जब तक वह स्वाँस नहीं लेता तपस्या से निवृत्त नहीं होता तब तक यही दशा बनी रहेगी।"

शीघ्रता के साथ देवताओं ने कहा—"हे अशरणशरण! हे विभो! हे प्रणतवत्सल! आप शीघ्र से शीघ्र पधारकर उसे तप से निवृत्त कीजिये। उसे आज्ञा दीजिये, कि वह स्वाँस ले।"

भगवान् ने कहा—"हाँ मैं जाऊँगा, वह जो चाहता है वह उसे दूँगा और तप से निवृत्त करके उसे उसके घर भेजूँगा।"

देवताओं ने कहा—"भगवन्! शीघ्रता करें सबके प्राण घुटे जा रहे हैं, वह जो भी माँगे वह आप उसे दें। यदि वह हम आठों लोकपालों में से भी किसी का पद माँगे तो आप उसे दे दें।"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"अरे, वह लोकपाल नहीं तुम सबका दादा गुरू बनेगा। वह त्रैलोक्य से ऊँचे विष्णु पद को प्राप्त करेगा। तुम सब तो उसके नीचे रहोगे। ये सब गृह नक्षत्र तारा उसे ही अपना आधार बनाकर उसकी प्रदक्षिणा करते रहेंगे वह सामान्य पद का इच्छुक नहीं।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! आप तो वरदानियों में श्रेष्ठ हैं, वह जो माँगे वही आप उसे वरदान दें। अच्छी बात है तो हमें आज्ञा मिलनी चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, तुम सब लोग अपने अपने लोकों को प्रसन्नता पूर्वक जाओ, मैं भी अपना अवतार धारण करके उसके समीप जाता हूँ।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"भगवन्! एक भक्त के लिये दर्शन देने को अवतार धारण क्यों किया? जिस रूप से भगवान् ने उसे दर्शन दिये उस चतुर्भुज ध्रुव नारायण अवतार की गणना २४ अवतारों में भी है?"

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन् ! भगवान् के सभी अवतार भक्तों के ही निमित्त होते हैं। जिस कार्य से सम्पूर्ण विश्व का सम्बन्ध होता है, उस समय भगवान् विशिष्ट अवतार ही धारण करके उस कार्य को करते हैं। वैसे विष्णु तो सर्वव्यापक हैं ही। समुद्र मथन के समय भगवान् ने ४ अवतार धारण किये। एक अजित विष्णु अवतार, दूसरा कच्छप अवतार, तीसरा धन्वन्तरि अवतार, चौथा मोहिनी अवतार। एक ही भगवान् के ये सब अवतार हैं। क्योंकि समुद्र मन्थन से विश्व का कल्याण होना था। कच्छप अवतार से इस पृथ्वी की स्थिति ठीक रखनी थी। अजितावतार से मन्वन्तर का पालन करना था। धन्वन्तरि अवतार से ससार के रोगों की चिकित्सा करनी थी। और मोहिनी अवतार से असुरों को छलकर सुरों की वृद्धि करनी थी। देवताओं की नष्ट हुई श्री पुनः स्थापित करनी थी, इन चारों अवतारों के विश्व पालन में पृथक् पृथक् कार्य थे। इसी प्रकार इस 'ध्रुव नारायण' अवतार से भी तीनों लोकों की मर्यादा के निमित्त ध्रुव लोक की स्थिति व्यवस्थित करनी थी। ध्रुवजी को विष्णु पद देकर तीनों लोकों का कल्याण करना था। इसीलिये यह अवतार भी विश्व पालन के लिये ही था। जैसे नृसिंहावतार को प्रकट करने में प्रह्लाद जी निमित्त माने जाते हैं, ऐसे ही इस 'ध्रुवनारायण' अवतार के निमित्त श्रीध्रुवजी ही हैं। साधुओं का परित्राण दुष्टों का विनाश, धर्म की स्थापना इस अवतार का मुख्य हेतु नहीं है, इसे तो प्रभु सर्वान्तर्यामी रूप से भी कर सकते हैं। उनके अवतार का मुख्य हेतु तो है भक्तवत्सलता, भक्तों पर कृपा करने ही वे अवनि पर अवतरित होते हैं। भक्त उनके स्वरूप हैं, भक्त अपनी भावना का जब साकार स्वरूप देखना चाहते हैं तभी भगवान अवतार लेते हैं, इसीलिये अवतार भक्त की भावना का साकार सजीव व्यक्त रूप है। जिस प्रकार भक्त

गए भगवान् के दर्शनों को व्याकुल रहते है, वैसे ही भगवान् भी भक्तों के दर्शन करने को साकार स्वरूप से उत्सुक बने रहते हैं। अतः भगवान् के अवतार का हेतु एक यह भी है, कि वे भक्तों के दर्शन करने के निमित्त अपना स्वरूप बना लेते हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं —"विदुरजी ! जब सब लोकपाल अपने लोकों को चले गये तो भगवान् भी अपने भक्त के दर्शनार्थ मधुवन की ओर चले।"

छप्पय

सुनि देवनि की बिनय कहैं प्रभु मत घबराओ।
भय की नहिँ कछु बात न चिन्ता मन में लाओ॥
मचल्यो मेरो बाल भक्त इक अबई जाऊँ।
करकें प्यार दुलार विविध विधितें समझाऊँ॥
वाक बाण ते विद्ध है, करे तपस्या कठिनतर।
मुँह माँग्यो वर देहुँगो, सेवक कूँ सब सुलभ वर॥

ध्रुवजी को भगवान् के दर्शन

[२३१]

त एवमुत्सन्नभया उरुक्रमे
कृतावनामाः प्रययुस्त्रिविष्टपम् ।
सहस्रशीर्षाऽपि ततो गरुत्मता
मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः ॥⊛
(श्रीमा० ४ स्क० ६ अ० १ श्लोक)

छप्पय

देव गये निज धाम सजे घनश्याम हमारे ।
शङ्ख चक्र अरु गदा पद्म कर कमलनि धारे ॥
पीताम्बर फहरत जात विद्युत सम चमकें ।
मणिमय मनहर मुकुट अलक संग दम दम दमकें ॥
भक्त दरश कूँ श्याम छवि, उपमा किहि सग देहि कवि ।
गरुड़ पीठि चढ़ि जाहिँ ज्यों, अस्ताचल कूँ सहस रवि ॥

साधारण नियम यह है, पिता के दर्शनों का पुत्र जाता है। गुरु के दर्शनों को शिष्य जाता है और भगवान् के दर्शनों को

⊛ मैत्रेय मुनि कहते हैं—" विदुरजी ! देवगण तो भगवान् के ऐसा कहने पर उन्हें प्रणाम करके स्वर्गलोक को चले गये, इधर गरुड पर चढ़कर सहस्रशीर्षा भगवान् भी अपने भक्त के दर्शनों के लिये मधुवन को चले गये ।"

भक्त जाता है, किन्तु जब पुत्र शिष्य अथवा भक्त कोई लोकोत्तर अपूर्व काम करते हैं, तो स्नेहवश वात्सल्य प्रेम के वशीभूत होकर पिता, गुरु तथा भगवान् स्वयं अपने आश्रितों के समीप जाते हैं, आगे जाकर उन पर कृपा की वृष्टि करते हैं। स्नेहपूर्वक हृदय से लगाते हैं तथा उनका उत्साह बढाते हैं। जो हमारे पूजनीय हैं, वन्दनीय तथा स्मरणीय हैं, वे जब स्वयं हमारे समीप वात्सल्य स्नेहवश आते हैं, तो हमारा हृदय भर आता है। उस समय हम किंकर्तव्यविमूढ बन जाते हैं, कैसे इनका स्वागत-सत्कार करें, कैसे इन पर अपना प्रेम प्रकट करें, हम सहसा सम्भ्रम में पड़ जाते हैं, हड़बडा जाते हैं। उस समय कैसी स्थिति हो जाती है, उसका वर्णन करना लेखनी के बाहर की बात है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! देवताओं ने जब ध्रुव के तप की बात सुनी और भगवान् के द्वारा आश्वासन पाया, तो वे सब अपने लोकों को लौटकर चले गये। अब हमारे सहस्रशीर्षा अनादि अनन्त भगवान् अपने मचले हुए बालभक्त के दर्शनों के निमित्त मधुवन की ओर चले।

यमुनाजी का पावन पुलिन था। जनशून्य निर्जन स्थान, बीहड़ वन। अकेला बालक वृक्ष के नीचे बैठा था। चारों ओर पक्षिगण कलरव कर रहे थे। हरिण, शशक, सियार आदि जंगली जीव इधर से उधर जा रहे थे, मन्द मन्द पवन वह रहे थे, पादपों के पत्ते हिल रहे थे, निविड़ निकुञ्जों में भरे वायु देव सॉय सॉय कर रहे थे। हिंसक जन्तु शब्द कर रहे थे, बड़े बड़े विषधर सर्प इधर से उधर फण उठाये घूम रहे थे, किन्तु ध्रुवजी को इन सबका कुछ पता ही नहीं। वे तो अपने ध्यान में निमग्न थे।"

विदुरजी ने पूछा—"भगवन् ! उन्हें इन सब घटनाओं से कभी भी बाह्यज्ञान नहीं होता था ?"

शीघ्रता के साथ मैत्रेयजी ने कहा—"विदुरजी ! बाह्यज्ञान तो अज्ञान का चिह्न है, जिसका मन ज्ञान स्वरूप श्रीहरि में तल्लीन है, वह बाहरी वस्तुओं को देखेगा ही क्यों ? वह तो अपने स्वरूप में मस्त रहेगा। हमने ऐसा सुना है, कि ध्रुवजी का ध्यान भंग करने के निमित्त देवताओं ने यह समझकर, कि यह हमारे पद तो नहीं लेना चाहता, बड़े बड़े विघ्न किये। कोई सिंह बन गया किसी ने ध्रुवजी की माता सुनीति का रूप धारण कर लिया। वह बनावटी माता आकर रोने चिल्लाने लगी—"बेटा ध्रुव ! तू क्यों तप कर रहा है, अरे देख मैं कैसी दुखी हूँ। तेरे बाप ने मुझे निकाल दिया और तू भी मुझे छोड़कर चला आया। तेरे ऐसे तप को धिक्कार है। तू मेरी रक्षा कर बेटा ! इस तप को छोड़ दे माता की सेवा करना यही पुत्र का परम धर्म है। तू इस महान् धर्म को छोड़कर यह मुझे क्लेश देने वाला धर्म क्यों कर रहा है ?" इस प्रकार की बहुत सी बातें ध्रुवजी को सुना-सुनाकर वह मायामयी माता कहने लगी, किन्तु ध्रुवजी तो सब समझते थे, कि मेरी माता ऐसी मोह ममता भरी बातें कभी कह ही नहीं सकती। मेरी माता इस प्रकार दुःखों से व्याकुल हो ही नहीं सकती। यह तो कोई माया है, मुझे तप से च्युत करने को कोई भूतनी ऐसा वेष बनाकर आयी है, अतः उन बातों से वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। जब ध्रुवजी पर किसी भी माया का प्रभाव नहीं पड़ा, तो देवता हारकर, झख मारकर अपने लोकों को चले गये। जब कुछ दिनों पश्चात् सबके प्राणों की गति रुकने लगी, तब तो इसका कारण न समझकर भगवान् के समीप गये। तभी भगवान् अपने भक्त के समीप मधुवन में आये।

भगवान् ने यमुनाजी के कोमल बालू में उस नन्हें से बालक को पैर के अगूठे पर ठूँठ की भाँति निश्चल भाव से खड़े हुए देखा। एक लँगोटी के अतिरिक्त शरीर पर कोई वस्त्र नहीं था।

छोटी-छोटी, काली-काली घुघराली अलकें पलकों और कंधों तक बिथुरकर वायु में हिल रहीं थीं। दोनों कमल के समान नेत्र बन्द थे। दोनों हाथ बँधे हुए उदर से सटे हुए थे, मानों गोंद से चिपका दिये हों। वे न हिलते थे न डुलते थे। मिट्टी की मूर्ति के समान स्तब्ध हुए खड़े थे। भगवान् बड़ी देर तक उस भोले बालक के प्यारे-प्यारे मुख की ओर निहारते रहे, किन्तु ध्रुवजी को तो बाह्यज्ञान ही नहीं था, वे तो अपने हृदय के कमलकोश पर विराजमान ज्योतिस्वरूप भगवान् के बिजली के समान प्रभावान् रूप के ध्यान में मग्न थे। योगाभ्यास के कारण एकाग्र हुई अपनी बुद्धि से उन परात्पर प्रभु का ही अनन्य चिन्तन कर रहे थे।

भगवान् ने सोचा—"कैसे मैं इसे अपना आगमन जताऊँ!" यह सोचकर अमोघ वीर्य भगवान् ने ध्रुव के हृदय में प्रकाशवान् अपने स्वरूप को अन्तर्हित कर दिया। जैसे जल के सूख जाने पर मछली तड़फती है वैसे ही हृदय से भगवान् के रूप के अन्तर्हित होते ही ध्रुवजी घबड़ा गये। सहसा वह अपूर्व छवि कहाँ विलीन हो गयी। हड़बड़ाकर उन्होंने आँखें खोल दीं। ज्यों आँखें खोल-कर देखते हैं त्यों ही वही मूरति सजीव साकार होकर प्रत्यक्ष सम्मुख दिखायी दी। ध्रुवजी की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। वे प्रेम में इतने मग्न हो गये, कि उन्हें कर्तव्याकर्तव्यका विवेक नहीं रहा। दौड़कर चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया। आँखें सरस ही रही थीं, वे चाहती थीं इस रूप माधुरी को पी जायँ, वे भगवान् के श्रीमुख में ऐसी गड़ गयी थीं, कि हटाने पर भी नहीं हटती थीं, अपनी ज्योति रूपी लुटिया में भर-भरकर उस छवि को घुसकी से स्वाद के साथ पी रही थीं। ओठ लालायित हो रहे थे कि इन लोल कपोलों का स्पर्श पावें तो प्रेम से चूम लें, जिह्वा लपलपा रही थी, कि इस अनन्त रस माधुरी को चाटती ही रहे। बाहुएँ उन्हें कसकर हृदय से चिपकने के लिये चञ्चल हो रही

थीं। क्या करें कुछ निर्णय न कर सके। वाणी चाहती थी, कि कुछ स्तुति करें, किन्तु ५ वर्ष का बालक अभी अक्षरारम्भ भी नहीं हुआ था। उन अनन्त ब्रह्माण्डनायक की स्तुति कैसे करते? एक भी श्लोक याद नहीं था। क्या कहकर कैसे स्तवन किया जाता है, उन्हें कुछ भी पता नहीं था। यदि कुछ याद भी था, तो भगवान् के सहसा इस दिव्य रूप के दर्शन पाकर वे सब कुछ भूल भाल गये। हक्के-बक्के से रह गये।

भगवान् अपने भक्त की विवशता को समझ गये। वे तो सर्वान्तर्यामी हैं। उनसे किसी के मन की बात छिपी तो रहती ही नहीं, अतः उन्होंने बड़े स्नेह से ध्रुवजी के कपोल को अपने ब्रह्ममय शङ्ख को लेकर स्पर्श कर दिया।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"प्रभो! भगवान् ने शङ्ख का स्पर्श कपोल से क्यों कराया?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! देखिये, छोटे बच्चों को प्यार करते हैं तो प्यार में सबसे पहिले उनके कपोल को ही पकड़ कर हिला देते हैं या उँगली से छू देते हैं। माता-पिता जब बच्चे के प्रति अपना स्नेह प्रकट करते हैं, तो उसके कपोलों को ही चूमते हैं, प्यार करने की यह एक प्राचीन परिपाटी है। भगवान् को भी उस छोटे से मुनमुना से भोले भाले बच्चे को देखकर वात्सल्य स्नेह उमड़ पड़ा। वे भी उससे प्यार करने को उतावले हो गये। उसकी स्तुति करने की इच्छा भी पूरी करनी थी। उनका शंख क्या है, सम्पूर्ण वेदमय है। समस्त ज्ञान का सजीव साकार स्वरूप वह सर्वेश्वर का शुभ्र शंख है। उसके स्पर्श का सौभाग्य जिसको प्राप्त हो गया वह मानों वेदमय बन गया। सरस्वती उसकी चेरी बन गयी। फिर उसे वेदशास्त्रों का अनुसरण नहीं करना पड़ता उसकी वाणी स्वयं ही वेदशास्त्रों के अनुरूप ही बोलने लगती है। इसीलिये सर्वज्ञता प्राप्त न करने

के निमित्त भगवान् ने उस नन्हें-से बच्चे के कपोल से अपना दिव्य शंख छुआ दिया।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं विदुरजी! शंख के स्पर्श होते ही फिर क्या था, ध्रुवजी के भीतरी कपाट खुल गये, उनकी वाणी वेदमय हो गयी, वे भगवान् की स्तुति करने के लिये उद्यत हुए।"

छप्पय

माधव मधुवन लख्यो तहाँ थिर बालक ठाढ़ो।
देखि बाल वात्सल्य हिये में हरिके बाढ़ो॥
अन्तर्हित निजरूप हियेतैं, ध्रुव के कीन्हों।
इत उत निरखे नेत्र खोलि हरि सम्मुख चीन्हों॥
परथो दण्डवत् भूमि में, तनिक न तनकी सुधि रही।
तनु पुलकित गद्गद गिरा, प्रेम समाधि दशा लही॥

ध्रुवजी द्वारा भगवत्स्तुति और श्रीहरि द्वारा उन्हें वर प्राप्ति

[२३२]

स वै तदैव प्रतिपादितां गिरम्
दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः ।
तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरम्
परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० ६ अ० ५ श्लोक)

छप्पय

प्रेम मगन ध्रुव भये सतत श्रीहरिहिँ निहारें।
इस्तुति कैसे करूँ विकल है बाल विचारें ॥
जानी हरि हिय बात शङ्ख तें वदन छुवायो।
भये वेदमय वचन ज्ञान विज्ञान लखायो ॥
वेद शास्त्र सम्मत वचन, शङ्ख छुअत मनमहँ जगे।
गद्‌गद वाणी मुदित मन, विनती ध्रुव करिवे लगे ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—विदुरजी ! जिसको ध्रुव पद प्राप्त होने वाला है, उन ध्रुवजी के कपोल से जब शङ्ख का स्पर्श हो गया, तब उन्हें दिव्य वाणी प्राप्त हो गई, उन्हें जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप ज्ञान का निर्णय हो गया। इसलिये उस समय वे सर्वत्र सुप्रसिद्ध पावन यशवाले उन प्रभु की भक्ति भाव से स्तुति करने लगे।"

वह वाणी ही यथार्थ वाणी है जो विश्वम्भर की विरुदावली का वर्णन करती है। वे नेत्र ही वास्तविक नेत्र हैं, जो नन्दनन्दन अरविंद पराग के लोलुप होकर उसी के ऊपर मँडराते फिरते हैं। वे श्रवण ही सफल श्रवण कहलाने योग्य हैं जो श्रीमन्नारायण के सुमधुर जगन्मगल पावन नामों का उनके त्रैलोक्य पावन गुणों का सदा श्रद्धा सहित श्रवण करते रहते हैं। भगवान् ने वाणी दी और उससे भगवत्स्तुति न की, तो इससे श्रेष्ठ तो मूकपन ही है। वाणी की एकमात्र सफलता श्यामसुन्दर की स्तुति करने में ही है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुर ! ध्रुव को भगवद्दर्शनों से जो अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ, उसका वर्णन करना चर्मजिह्वा के परे की बात है। जैसे कोई जन्म का कँगला हो और सहसा अगणित द्रव्यराशि मिल जाय, जिस प्रकार वह अपने आनन्द को व्यक्त करने में–सहन करने में–समर्थ नहीं हो सकता, उसी प्रकार ध्रुवजी आत्मविस्मृत से हो गये। सहसा उनके मन में भगवान् की स्तुति करने की इच्छा हुई। इच्छा श्रीहरि ने ही उत्पन्न की, उन्हें ही उसे पूरी करने को शङ्ख का स्पर्श कराके वेद-शास्त्र सम्मत वाणी को भी प्रस्फुटित किया। नहीं तो पाँच वर्ष का बच्चा स्तुति करना क्या जाने। ध्रुवजी चाहते थे, शनैः-शनैः अपने हाथों से भगवान् के चरणारविन्दों को दबावें। लक्ष्मीजी जो निरन्तर उन अत्यन्त कोमल चरणों को दबाते-दबाते अघातीं नहीं, ऐसा इनमें क्या जादू है, यह अनुभव करने की जिज्ञासा उनके मनमें उठी। चरणों से चलकर श्रीहरि के पादपद्मों की धूलि को अपने सम्पूर्ण अङ्गों में मलें। कानों से उनकी सुमधुर वाणी सुनें, त्वचा से उनका सुखद स्पर्श करें। ये सब इच्छाएं प्रभुप्रेरणा से ही हृदय में जागृत् हुईं। जब भगवान् ने स्तुति करने की शक्ति प्रदान की, तो पहिले उन्होंने यही बात कही—"प्रभो ! मैं आप

पुरुषोत्तम के पादपद्मों में प्रेमपूर्वक प्रणाम करता हूँ। आप ही मेरे अन्त करण में प्रविष्ट होकर सब इन्द्रियों को उनके कैर्य के लिये प्रेरित करते हैं। सुपुप्ति अवस्था में पड़ी हुई वाणी को चैतन्यता प्रदान करते हैं। कर, चरण, कर्ण, त्वचा आदि को तत् तद् कार्यों को करने के लिये उत्साहित करते हैं ऐसे आपकी मैं स्वतः स्तुति भला कैसे कर सकता हूँ ?"

सूतजी कहते हैं—' मुनियो ! इस प्रकार ध्रुवजी ने भगवान् की वेद शास्त्र सम्मत पड़ा ही अद्भुत स्तुति की। उस दिव्य स्तुति का एक-एक शब्द स्मरणीय है। यह स्तुति क्या है सर्व शास्त्रों का सार है।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"महाभाग सूतजी ! उस सम्पूर्ण दिव्य स्तुति को व्याख्या सहित आप हमें सुनावें।"

इस पर सूतजी बोले—"भगवन् ! यह स्तुति है तो ११ ही श्लोकों की, किन्तु इतनी विषद है, कि इस कथा प्रसङ्ग में उसका वर्णन करने से कथा का प्रवाह रुक जायगा, इसलिये उस स्तुति को मैं स्तुति प्रकरण में यथामति व्याख्या सहित कहूँगा। स्तुति करते हुए अन्त में ध्रुवजी ने कहा—"प्रभो ! आपकी स्तुति का सर्वश्रेष्ठ फल तो यही है, कि आपके पादपद्मों में अनुराग हो। फिर भी आप तो कल्पतरु हैं, आपकी शरण में जो जिस भावना से भी जाता है, उसकी आप उसी भावना को पूरी करते हैं। आप भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये सदा कातर बने रहते हैं। आपकी विकलता केवल भक्तों पर कृपा के ही लिये होती है। जैसे गौ अपने तुरन्त के जन्मे बछड़े को दूध भी पिलाती है और सब प्रकार से उसकी रक्षा भी करती है, इसी प्रकार आप भक्तों की समस्त इच्छाओं को भी पूरी करते हैं और उन्हें पतन से आवागमन से छुड़ाते हैं। प्रभो ! बहुत-से ऋषि मुनि आपकी निष्काम भाव से उपासना करते हैं, वे आपसे आपकी भक्ति के

अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते, किन्तु मैं तो निष्काम भक्त नहीं हूँ, दीनबन्धो ! मैं तो नीच क्षुद्र और सकाम भक्त हूँ। मैंने आर्त होकर दुःखी होकर आपके चरणों की शरण ली है। यद्यपि मेरा मनोरथ बहुत तुच्छ है, किन्तु आप तो अपनी शरण में आये हुए प्राणियों के तुच्छ से तुच्छ हेय मनोरथों को भी पूरा करते हैं। आपके यहाँ कुछ अदेय नहीं है। किसी भी भावना से कोई आपकी शरण में आवे, वह निराश होकर नहीं लौटता। मैं क्या चाहता हूँ उसे आप सर्वान्तर्यामी होने से भली-भाँति जानते हैं, उसे आपसे कहूँ क्या ? कहने में भी मुझे लज्जा आती है।"

अपने भक्त को इस प्रकार दुखी देखकर दीनबन्धु दीनानाथ ध्रुवजी की प्रशंसा करते हुए और उनकी ओर मंद-मंद मुस्कराते हुए प्रेमपूर्वक बोले—"बेटा ! ध्रुव भैया मैं तेरे मन की सब बात जानता हूँ। तू संकोच मत करे। अपने मन में ग्लानि के भाव मत लावे। यद्यपि तेरा मनोरथ कठिन है फिर भी मैं उसे पूरा करूँगा। तू जैसा पद चाहता है जिसे तेरे पिता, प्रपितामह किसी ने भी प्राप्त न किया हो। मैं उसे तुझको दूँगा। जिस तेजोमय ध्रुवलोक को आज तक कोई भी प्राप्त नहीं कर सका है। जिसमें समस्त ग्रह नक्षत्र तथा तारागण स्थित हैं, उसी का आश्रय लेकर समस्त ज्योतिश्चक्र घूमते हैं, जो कल्प की प्रलय में भी नाश नहीं होता। जैसे खलिहान के बीच में गड़े हुए खूँटे का आश्रय लेकर उसी के चारों ओर बैल घूमते हैं, उसी प्रकार जिस ध्रुवलोक का ही सहारा लेकर समस्त नक्षत्र, धर्म अग्नि कश्यप, शुक्र आदि ग्रह भूत बनवासी मुनिगण उसके चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं उसी दुर्लभ ध्रुव लोक को मैं तुझे दूँगा। तेरे नाम से ही यह सुप्रसिद्ध होगा। तू समस्त देवता ग्रह नक्षत्र और ताराओं से ऊपर स्थित रहेगा। उसका नाम विष्णु पद भी है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! इस प्रकार प्रसन्न होकर भगवान् ने ध्रुव को परलोक पधारने पर विष्णु पद ध्रुवलोक की प्राप्ति का वरदान दिया। भगवान् की प्रसन्नता होने पर इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकों की समृद्धि प्राप्त हो जाती है। परलोक का वरदान देकर भगवान् इस लोक के सुख का वरदान देने लगे।"

भगवान् पुनः बोले—"देख, इस लोक में भी तू चक्रवर्ती राजा होगा। तेरे पिता तुझे राज्य देकर वन में चले जायँगे, तब इसके अनन्तर तू ३६ सहस्र वर्ष तक राज्य सुख भोगेगा।"

ध्रुवजी ने शीघ्रता से कहा—"इतने दिन तो बहुत हैं। वृद्धावस्था में तो दुःख ही दुःख है।"

भगवान् बोले—"नहीं, तेरी इन्द्रिय शक्ति का कभी ह्रास न होगा, तू सदा युवा ही बना रहेगा। तेरा भाई उत्तम आखेट के लिये अरण्य में जायगा तभी वह गन्धर्वों द्वारा मारा जायगा। उसकी माता सुरुचि उसे खोजने जायगी, वह भी वन की दावाग्नि में जलकर अपने कुकर्म का फल भोगेगी। तू बड़ी-बड़ी दक्षिणा वाले बहुत से यज्ञ करेगा। संसार मे तेरा सर्वत्र यश फैलेगा। तू बड़े-बड़े पराक्रम के कार्य करेगा। नाना प्रकार के संसारी भोगों को भोगकर मेरा स्मरण करता हुआ उस परम पद ध्रुवलोक में जाकर पूजित होगा, जिसकी वन्दना सभी प्राणी करते हैं जो सप्तर्षिलोक से भी ऊँचा है वहाँ पहुँचने पर फिर संसार में लौटना नहीं होता। वह अपुनरावृत्ति पद है।"

इतना कहकर भगवान् शीघ्रता से गरुड़ पर सम्हलकर बैठे। ध्रुवजी ने शीघ्रता से फल फूल और जल द्वारा उनकी पूजा की अपने भक्त की पूजा प्रेमपूर्वक स्वीकार करके प्रभु बात की बात में वहीं अन्तर्धान हो गये। ध्रुवजी देखते के देखते ही रह गये।

भगवान् के अन्तर्हित होने पर उन्होंने भूमि में लोटकर उस दिशा को प्रणाम किया जिस दिशा मे भगवान् अन्तर्धान हुए थे।

मैत्रेय मुनि कहते हैं "विदुरजी! ६ महीने में ५ वर्ष के बालक ध्रुव ने सर्वान्तर्यामी प्रभु को प्रसन्न करके उन्हें प्रकटकर लिया अपना अभीष्ट वरदान प्राप्त किया। त्रैलोक्य में श्रेष्ठ परम पद की प्राप्ति होने पर भी उन्हे प्रसन्नता न हुई। वे प्रसन्न नहीं हुए। अपने को अकृतार्थ की भाँति समझकर खिन्न मन से घर की ओर चल दिये। लौटते समय अपने सकल्प की पूर्ति होने पर भी उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई।"

यह सुनकर अत्यन्त आश्चर्य के सहित विदुरजी पूछने लगे—"महाराज! यह तो आप अत्यन्त ही आश्चर्य की बात कह रहे हैं। भगवान् के दर्शन होना कोई साधारण बात नहीं। बड़े-बड़े जितेन्द्रिय राजर्षि हजारों लाखों वर्ष में भी घोर तपस्या करके जिनका दर्शन नहीं पा सकते। उन प्रभु को एक ही जन्म में केवल ६ महीनों की ही तपस्या से जिन ध्रुवजी ने प्राप्त कर लिये और जो ध्रुवपद अत्यन्त ही दुर्लभ है उस पद का वरदान भी प्राप्त कर लिया। फिर भी ध्रुवजी ने अपने को अकृतार्थ क्यों समझा। उन्हें तो अत्यधिक प्रसन्नता होनी चाहिये थी, वे खिन्न मन से घर की ओर क्यों लौटे? इसका कारण कृपा करके बताइये।"

विदुरजी की ऐसी बात सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी आप एकाग्रचित्त होकर सुनिये। मैं इसका कारण बताता हूँ।" इतना कहकर मैत्रेय जी ध्रुवजी की खिन्नता का कारण बताने लगे।"

छप्पय

सुनि विनती हरि कहें करूँ मन वांछित तेरो।
पावे दुर्लभ श्रेष्ठ अन्त तू ध्रुव पद मेरो॥
करि छत्तीस हजार वर्ष पृथिवी पै शासन।
भोगो भोगनि किन्तु रहे मम चरणनिमहँ मन॥
यों वर दैकें बरद हरि, अन्तर्हित छिन में भये।
करिकें पश्चात्ताप बहु, ध्रुव निज घरकूँ चलि दये॥

ध्रुवजी का खिन्नमन होकर घर लौटने का कारण

[२३३]

मतुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान्स्मरन् ।
नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं तस्मात्तापमुपेयिवान् ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ६ अ० २१ श्लोक)

छप्पय

कहें विदुर—गुरु ! विष्णु दरश करि भयो ताप कस ?
बोले मुनि–सुनि, ध्रुवहिँ चित्तमहँ सोच भयो अस ॥
अरे ! मोक्षपति पाइ मोक्ष मैंने नहिँ माँगी ।
परुष विमाता वचन यादि करि ईर्ष्या जागी ॥
हाय ! नृपति ढिँग जाइ मम, माँगी चावलकी भुसी ।
तुच्छ भोगहित भजे हरि, हिय कुबुद्धि कैसी घुसी ॥

चित्त में जब कोई कामना उत्पन्न हो जाती है, तो उसके नाश के दो ही उपाय हैं, या तो विचार द्वारा, विवेक द्वारा उसे चित्त से हटा दिया जाय या उसकी पूर्ति हो जाय। साधारण

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ध्रुवजी अपनी सौतेली माता के वाग्बाणों से ऐसे विद्ध हो गये थे, कि उन्हें उनका स्मरण बना ही रहा। इसीलिये मुक्ति के दाता श्रीहरि के प्रसन्न होने पर भी उनसे मुक्ति नहीं माँगी। इसी कारण उन्हें मानसिक सन्ताप हुआ।"

वासनाएँ तो विचार से, सत्संग से, वैराग्य से, विषयों से पृथक् रहने से हट जाता हैं या स्वप्न आदि में उनका क्षय हो जाता है, किन्तु जो प्रबल वासना हो जाती है,जो किसी प्रकार हटाये से भी नहीं हटतीं, तो वह भगवत् कृपा से ही हटेगी। ऐसी दशा में किसी अन्य का आश्रय न लेकर सर्वात्मभाव से भगवान् की ही शरण में जाना चाहिये। भगवान् चाहें उसे भोग प्राप्त कराके हटा दें या अपनी कृपा दृष्टि से क्षय कर दें। प्रायः ऐसा ही देखा गया है, कि प्रबल वासनाओं की पूर्ति करके ही भगवान् अपने आश्रितों को सासारी माया मोह से मुक्ति प्रदान करते हैं। काशी, प्रयाग आदि तीर्थों में मरने मात्र से ही मुक्ति मिलती है, ऐसा शास्त्र पुराणों में अनेकों बार कहा गया है, किन्तु जो कोई कुछ वासना लेकर मरते हैं, तो उन्हें उस वासना की पूर्ति के लिये वहाँ मरने पर भी फिर जन्म लेना पड़ता है। उस वासना की पूर्ति हो जाने पर वे भगवान् के परमपद को प्राप्त होते हैं। पद्मपुराण में ऐसी कथा आती है, कि त्रिवेणी स्नान करते समय किसी अन्त्यज की किसी श्रेष्ठ वैश्य पत्नी पर दृष्टि पड़ी। उसकी परिचारिकाओं से उसने प्रस्ताव किया। हँसी में उस दासी ने कह दिया तू इसे पाना चाहता है तो त्रिवेणी में डूब मर। उसने ऐसा ही किया। उसी का चिन्तन करते हुए वह त्रिवेणी में डूबकर मर गया। अन्त में उसने उसे प्राप्त किया और उसके सहित वैकुण्ठ गया। वासना लेकर भी यदि जीव उसकी पूर्ति के लिये भगवान् की ही शरण में जाता है, तो उसकी वह वासना भी पूरी होती है और अन्त में मुक्ति मिल जाती है, किन्तु जो वासनाओं की पूर्ति के लिये ससारी साधनों का सहारा लेकर स्वतः ही उनकी पूर्ति के लिये प्रयत्न करता रहता है, तो उसे तो ८४ के चक्कर में घूमना ही पड़ता है। जन्म मरण के दुःख भोगने ही पड़ते हैं, विदुरजी के पूछने पर मैत्रेयमुनि कहने लगे—' विदुरजी ! आपने जो

ध्रुवजी की खिन्नता का कारण पूछा उसे मैं बताता हूँ। ध्रुवजी जब घर से चलकर श्री नारदजी के उपदेश से मधुवन में तपस्या करने आये तो उनके हृदय से विमाता के वे वाग्बाण निकले नहीं थे। उनके हृदय में यह इच्छा घनी ही रही, कि मैं भगवत् कृपा प्राप्त करके अपनी विमाता को उसी उत्तम वाले सिंहासन पर बैठकर दिखा दूँगा, कि देख तेरे पेट में बिना जन्म लिये ही मैं इस सिंहासन पर बैठ गया, और अन्त में ऐसा श्रेष्ठ पद प्राप्त करूँगा, जिसे औरों की तो बात ही क्या मेरे पिता प्रपितामह ने भी प्राप्त नहीं किया है। भगवान् तो घट घट की जानने वाले हैं। ध्रुवजी की इच्छा जानकर उन्हें ये दोनों वरदान बिना माँगे ही दे दिये। सांसारिक इच्छित वस्तु के प्राप्त करने में ही उत्साह होता है, प्राप्त होने पर सामान्य-सी लगने लगती है और उससे कभी-कभी विराग भी हो जाता है। प्राप्त करने के अनन्तर पश्चात्ताप भी होता है, कि इस क्षुद्र वस्तु को प्राप्त करने के लिये हमने व्यर्थ ही इतना प्रबल परिश्रम किया। यही दशा ध्रुवजी की हुई। जब तक भगवान् के दर्शन नहीं हुए, तब तक तो सोचते थे—"भगवान् के दर्शन होने पर यह माँगूगा। ऐसा कहूँगा वैसे कहूँगा।" जब उनके दर्शन हुए, तो उनके तेज और महत्व को देखकर सहम गये। कुछ माँग ही न सके, किन्तु सर्वान्तर्यामी प्रभु तो सब जानते थे। उसकी इच्छा पूरी करके उसे मनोवाञ्छित वरदान देकर अन्तर्हित हो गये। ध्रुवजी को पाछे पश्चात्ताप हुआ। भगवद्दर्शनों का यह फल हुआ, कि उनके मन से विमाता की ईर्ष्या निकल गयी। पश्चात्ताप शुद्ध अन्त करण मे ही होता है। उसने सोचा—"अरे, मैं तो ठग गया। देखो, साक्षात् मुक्ति के देने वाले भगवान् से मैंने यह क्या अनित्य वस्तु माँगी। राम-राम मैंने यह क्या किया। देवताओं ने मेरी बुद्धि विपरीत कर दी। उन्होंने मुझे मुक्ति से वञ्चित कर दिया। पृथ्वीलोक हो चाहे

ब्रह्मलोक, सब एक-से ही हैं, किसी में कम सांसारिक सुख है किसी में अधिक सभी तो पुनरावृत्ति शील हैं। मैंने भगवान् के चरणों की भक्ति इस संसार से मुक्ति क्यों नहीं माँग ली।" इन्हीं सब बातों से ध्रुवजी को उन वरदानों से कुछ प्रसन्नता नहीं हुई उन्होंने सांसारिक ऐश्वर्य को व्यर्थ समझा। उसकी प्राप्ति के लिये भगवद् आराधन करना अत्यन्त हेय काम समझा।"

इतना सुनकर शौनकजी ने पूछा—सूतजी! ध्रुवजी इतना बड़ा पद पाकर भी प्रसन्न नहीं हुए यह बात क्या है ?"

सूतजी बोले—"महाभाग! बात यह है, न कोई बड़ा न छोटा। ये सब अपेक्षाकृत हैं। हम मर्त्यलोक के प्राणियों के लिये स्वर्गीय सुख ही सर्वश्रेष्ठ है। स्वर्ग के देवता ध्रुव तथा महर्लोक, के सुखों को श्रेष्ठ समझते हैं, वे लोग जन, तप के सुखों को, जन तप वाले सत्यलोक के सुखों को। इनमें न कोई श्रेष्ठ है न कनिष्ठ, लोगों का भ्रम है, श्रेष्ठ तो प्रभु के पादपद्म हैं। संसारी माया मोह का क्षय हो जाना ही मोक्ष है। ऐसा मोक्ष ही सर्वश्रेष्ठ पद है। जो इन संसारी कारणों से दुःखी होकर उन्हीं की प्राप्ति के लिये आराधना करते हैं, वे वैसे ही हैं जैसे कोई सिर पर बोझ ले जा रहा है। दूर तक ले जाते थक गया तो सिर से उठा-कर कन्धे पर रख लिया। सिर को इससे कुछ काल के लिये शान्ति अवश्य हुई, किन्तु बोझा तो कम नहीं हुआ। शरीर पर तो ज्यों-का-त्यों भार रहा। इस विषय में एक छोटा-सा दृष्टान्त सुनिये।

एक कोई गरीब ग्रामीण मनुष्य था, एक उसकी स्त्री थी एक लड़का। स्त्री कुछ कर्कशा स्वभाव की थी घर में जब धन नहीं होता, थोड़ी-सी बात पर भी लड़ाई हो जाती है और यदि धन सम्पत्ति भरी पूरी हो, तो बड़ी से बड़ी बात दब जाती है। इसलिये उस गरीब के घर में नित्य ही कलह होती रहती। एक

दिन कलह से ऊबकर वह घर से निकल पड़ा। उसका पितृभक्त पुत्र भी उसके साथ चला। समीप में ही किसी चामुण्डादेवी का मन्दिर था। देवी बलिदान आदि से शीघ्र ही प्रसन्न हो जाती थीं, ऐसी सर्वत्र ख्याति थी। वे बाप बेटे भी चामुण्डादेवी का मन्दिर में जाकर बिना अन्नजल ग्रहण किये घोर तप करने लगे। कुछ काल में उनके तप से प्रसन्न होकर चामुण्डादेवी प्रकट हुईं और उस गरीब से बरदान माँगने को कहा। उसने कहा—"देवि! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे यही वरदान दें कि मेरी स्त्री मुझसे बहुत लड़ती है, वह मर जाय।"

देवी ने कहा—"अच्छी बात है मर जायगी।"

अब बेटा से कहा—"तू वरदान माँग।"

उसने कहा—"देवि! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे वरदान दीजिये कि जब मेरी माँ मर जाय तो मैं उसके ऊपर हाथ रख दूँ तो वह जीवित हो जाय।"

देवी ने कहा—"अच्छी बात है ऐसा ही होगा।"

दोनों घर को लौटे। गरीब की बहू मर गयी। बेटा ने हाथ रख दिया, जीवित हो गयी, हिसाब बराबर। यह तो वही बात हुई—

छऊ गये ससुराल छऊ दिन छै में आये।
छऊ के आये छै मिहमान, छऊ वहूँ गये न आये॥

छऊ नाम का कोई कंजूस था। उसने सोचा—"चलो ससुराल में चलें, कुछ दिन का अन्न बचेगा। यह सोचकर चले गये। ससुराल वाले तो जानते ही थे, ये दिन काटने आये हैं, इसलिये बहुत आदर सत्कार न किया और न रहने का ही आग्रह किया। फिर भी छऊ सेठ छः दिन तो डट ही गये। छठे दिन घर आये। पर आते ही देखते हैं उनके ६ मिहमान आ गये हैं। क्या करें खिलाना ही पड़ा। किसी ने पूछा—"छऊ सेठ कई

दिन से दिखायी नहीं दिये, कहाँ चले गये थे ? ६, ७ दिन से तुम तो यहाँ थे ही नहीं।" शिर खुजलाते हुए छऊ सेठ बोले—"कुछ पूछिये नहीं—

छऊ गये ससुराल छऊ दिन छै में आये।
छऊ के आये छै मिहमान छऊ कहूँ गये न आये॥

वही दशा बाप बेटों की हुई। स्त्री तो घर में ज्यों की त्योंही बनी रही। इतनी तपस्या और कर ली। चामुण्डादेवी से बहुत-सा धन माँगते, तो चैन की बंशी बजती। फिर भी तप तो व्यर्थ जाता नहीं। इस मरने जीने से स्त्री का स्वभाव बदल गया। अब वह कर्कशा नहीं रही।

सूतजी कहते हैं—"यही बात शौनकजी! ध्रुवजी ने सोची, कि भगवान् का ६ महीने में साक्षात्कार भी किया और फिर उनसे संसार की ही वस्तुएँ माँगीं, ये विचार ध्रुवजी के महत्ता-सूचक थे। सभी पुरुष अपने ही गज से नापते हैं। ध्रुवजी महान् थे। इसीलिये ध्रुव पद को भी तुच्छ समझते थे, नहीं तो वह पद तो त्रैलोक्य में सर्वोत्कृष्ट पद है। पृथ्वी का चक्रवर्ती पद प्राप्त करना भी साधारण पुण्य का फल नहीं है। फिर सबसे बड़ी बात है कि उन्हें भगवान् के दर्शन हो गये। भगवान् के दर्शनों के अनन्तर तो बन्धन रहता ही नहीं। जिनके मन में कामना रहते हुए भी भगवान् के दर्शन होते हैं, उनकी कामना पूर्ति के अनन्तर मुक्ति हो जाती है और जो निष्काम होते हैं, उनकी तत्काल मुक्ति हो जाती है। भगवान् के दर्शनों का फल ही मुक्ति है। देर सवेर की बात दूसरी है। ध्रुवजी के भाग्य को तो देखिये, छः महीने में भगवान् के दुर्लभ दर्शन हो गये!"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमें भी तब से इसी बात का आश्चर्य हो रहा है, कि ध्रुवजी को छः ही महीने में भगवान् के दर्शन कैसे हो गये। हमने बहुत-से ऋषि मुनियों को

हजारों वर्ष तपस्या करते देखा है, उन्हें हजारो वर्षों मे स्वप्न में भी दर्शन नहीं होते। उलटे हमने उन्हें तनिक-सा कारण उपस्थित होने पर विषयों में फँसते देखा है। कण्डू नाम के ऋषि थे। हजारों वर्ष के अनन्तर एक स्वर्गीय अप्सरा के चक्कर में फँस गये और ऐसे फँसे, कि हजारों वर्षों के पश्चात् भी उन्हें यही पता चला कि यह सबेरे आयी है, चलो सायंकालीन सन्ध्या कर आवें। विश्वामित्रजी ने चारों दिशाओं में हजारों वर्ष तपस्या की, सो भी भगवान् के दर्शनों के लिये नहीं, राजर्षि से ब्रह्मर्षि बनने के लिये। उसमें भी कितने कितने विघ्न आये। कहीं क्रोध आ गया, कहीं मेनका अप्सरा आ गयी, कहीं कामदेव आ गया। ऐसे एक नहीं हजारों दृष्टान्त हैं, किन्तु ध्रुवजी के तप में ऐसी कौन-सी विशेषता थी, कि छः महीने में ही भगवान् को उनके लिये अवतार धारण करके प्रकट होना पड़ा। कृपा करके आप हमारी इस शङ्का का समाधान करें।"

शौनकजी के ऐसे गम्भीर प्रश्न को सुनकर सूतजी थोड़ी देर चुप होकर सोचने लगे फिर सोचकर शौनकजी के इस प्रश्न का उत्तर देने को उद्यत हुए।"

छप्पय

हाय ! पाइके लाल कौंचले ताहि गँवायो।
हाय ! सुरनि मति भ्रष्ट करी भुवपद अपनायो॥
छै महीना में मिले मोहि माधव मदहारी।
तऊ न माँगी मुक्ति गई मेरी मति मारी॥
माँग्यो सोनो एक पल, ढिँग सुमेरु के जाइकें।
प्यासे गंगा तट गये, पीयो पय न अघाइकें॥

जन्मान्तरीय संस्कारों का फल

[२३४]

समाधिना नैकभवेन यत्पदम्
विदुः सनन्दादय ऊर्ध्वरेतसः ।
मासैरहं षड्भिरमुष्य पादयो—
श्छायामुपेत्यापगतः पृथङ्मतिः ॥*
(श्रीमा० ४ स्क० ९ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

एक करै तप सहस बरष परि सिद्धि न पावै ।
एक दिना दस करे सिद्ध चटपट ह्वै जावै ॥
एक राति दिन पढ़े यदि सैया नहिं होवै ।
एक सुनत ही यादि करै फिरि सुखतें सोवै ॥
पाप, पुण्य दुष्कृत, सुकृत, होहिं उदित बहु जनमके ।
सिद्धि असिद्धि अधीन नहिं, तत्क्षण कीन्हें करमके ॥

जब तक हम पुनर्जन्म के सिद्धान्त को न मानेंगे तब तक विष

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी ! पश्चाताप करते हुए ध्रुवजी कहते हैं—देखो कितने दुख की बात है, बड़े-बड़े सनकादि ऊर्ध्व रेता महर्षि तथा सिद्धगण जिस पद को समाधि द्वारा भगवत् चरणार विन्द की छाया अनेक जन्मों मे प्राप्त कर सकते हैं, उसी को मैंने केवल छः महोने में ही प्राप्त कर लिया, मन मे भेद बुद्धि होने के कारण उससे यथार्थ फल से वंचित ही होना पड़ा ।"

न्मता की गुत्थियाँ सुलझती नहीं। हम देखते हैं एक बालक जन्म से ही सुन्दर है, दूसरा कुरूप है। एक जन्म से ही हिंसक और क्रूर है, दूसरा बाल्यकाल से ही भगवद्भक्त सुशील और धर्मात्मा है। एक जन्म से ही रोगी है दूसरा कुपथ्य करते रहने पर भी सदा स्वस्थ बना रहता है। एक जन्म से ही मोटा है, दूसरा घी बूरा खाते रहने पर भी दुबला ही बना रहता है। एक, जन्म से ही बुद्धिमान् और मेधावी है, दूसरा अनेक प्रयत्न करने पर भी वज्रमूर्ख ही बना रहता है। एक आदमी कुछ भी प्रयत्न नहीं करता मिट्टी छूता है सुवर्ण हो जाता है, दूसरा रात्रि दिन परिश्रम करता है, उसका पेट नहीं भरता। एक उच्चकुल में उत्पन्न है, फिर भी उसे कोई पूछता नहीं। दूसरा हेय कुल में उत्पन्न हुआ फिर भी राष्ट्रपति के पद पर प्रतिष्ठित है। इन सब बातों की संगति पूर्वजन्म के संस्कारों और प्रारब्ध कर्मों से ही बैठती है।

शौनकजी के यह पूछने पर कि ध्रुव को ६ महीने में ही भगवद् दर्शन कैसे हो गये। इसका उत्तर देते हुए सूतजी कहते हैं—"ऋषियों! किसी बाह्य कारण को देखकर ही यह नहीं कहा जा सकता, कि इसी के कारण यह कार्य सिद्ध हुआ। दो पत्थर पड़े हैं। एक में ५० घन मारते हैं, तब फूटता है, दूसरा दो घन मारने से ही फूट जाता है। यद्यपि लोग कहते हैं, कि यह मेरे पुरुषार्थ से दो ही घनों से फूटा, किन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाय तो जो दो घनों से फूटा है, वह पहले घन लगाने से या और किसी प्रकार की चोट लगने से जर्जर हो गया था। इस समय दो घन की चोट उसके फूटने में निमित्त मानी गयी। वास्तव में तो वह पहिले से ही फूटा था, बस, दो घन की कसर थी लगते ही फूट गया। इसी प्रकार एक लड़का एक साल में ४-४ परीक्षाएँ उत्तीर्ण हो जाता है और उसे कुछ भी श्रम नहीं होता। दूसरा ४ साल में भी एक परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकता। इसका यही कारण,

है, कि पहिले ने पूर्वजन्म में पढ़ा था, अब उसे संकेत मिलते ही याद हो गया। दूसरे ने पढ़ा ही नहीं। उसके संस्कार ही ऐसे नहीं। इसीसे श्रम करने पर भी उसे याद नहीं होता।

दो तपस्वी साथ साथ तपस्या करते हैं, एक को हजारों वर्ष तपस्या करने पर भी भगवान् के दर्शन नहीं होते, दूसरों को कुछ ही दिनों में हो जाते हैं। जड़ भरतजी राज्य पाट छोड़कर वन में चले गये। घोर तपस्या में लगे रहे। उन्होंने प्रतीक्षा कर ली थी, जिह्वा से भगवन्नामों के अतिरिक्त दूसरा शब्द कभी स्वप्न में भी उच्चारण न करूँगा। निरन्तर तैल धारावत् भगवन्नमों का ही कीर्तन करते थे, किन्तु अन्त में उन्हें मृग बनना पड़ा। इसके विपरीत अजामिल ब्राह्मण होकर जीव हिंसा करता था, अखाद्य वस्तु खाता था, अपेय वस्तु पीता था, लोगों को लूटता था, सबकी हत्या करता था, चोरी जारी सभी पाप करता था। वेश्या का पति था, वृषली के साथ शैया भोजन आदि का सहवासी था, किन्तु मरते समय पुत्र का नाम नारायण कहकर परमपद का अधिकारी हो गया। इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है, कि पूर्वजन्मों के शुभाशुभ उदित होकर हमारे कार्यों में सहायता और विघ्न करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"शौनकजी ! आप इस विषय में आश्चर्य न करें, कि ध्रुवजी को ६ ही महीने में भगवद् दर्शन क्यों हो गये और अन्य ऋषि महर्षियों को हजारों वर्ष तपस्या करते रहने पर भी स्वप्न में भी दर्शन क्यों नहीं हुए। इस विषय में मैं आपको एक अत्यन्त ही सुन्दर पौराणिक आख्यान सुनाता हूँ। उसे आप ध्यानपूर्वक सुनेंगे तो आपकी शंका का स्वतः ही समाधान हो जायगा।"

उत्कल देश में समुद्र के तट पर परम पावन पुरुषोत्तम क्षेत्र है, जिसे नीलाचल या जगन्नाथ धाम भी कहते हैं। उसी परम

पावन पुण्य पुरी में एक भद्रतनु नामक ब्राह्मण रहता था। नाम तो उसका भद्रतनु था किन्तु शरीर से सदा अभद्र ही कार्य करता था। वह बड़ा विषयलम्पट था। उच्च कुल में उत्पन्न हुआ था, घर में यथेष्ट पैतृक सम्पत्ति भी थी, किन्तु उसने वेश्यागमन और बुरे कर्मों में सभी सम्पत्ति गँवा दी। वह सदा व्यभिचारिणी स्त्रियों के ही वश में रहता था। एक वेश्या में उसकी अत्यन्त ही अनुरक्ति हो गयी। वह भी इसे बहुत प्यार करती और यह भी उस पर सर्वस्व निछावर किये हुए था। नगर के सभी लोग उससे घृणा करते उसका अपमान करते, मुँह पर ही उसे भली बुरी कहते, किन्तु वह तो इतना निर्लज्ज बन गया था, कि किसी की भी बात नहीं सुनता था। कामातुर पुरुषों को लज्जा, शील, संकोच, भय आदि रहते ही नहीं। वे अपनी ही धुनि में मस्त रहते हैं उनका संसार ही पृथक् होता है। भद्रतनु भी निर्लज्ज होकर इन सब पापों को करता था।

एक बार आश्विन मास में उसके पिता के श्राद्ध की तिथि आयी। कैसा भी लोक निन्दित व्यभिचारी था, फिर भी लोक लाजवश उसने पिता का श्राद्ध किया। पिता के श्राद्ध से निवृत्त होते ही वह अपनी प्रियतमा वेश्या के समीप पहुँच गया। शास्त्रकारों का ऐसा कथन है, कि श्राद्ध के दिन श्राद्धकर्ता को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये। जो उस दिन ब्रह्मचर्य से न रहकर प्रसगादि करता है तो उसके पितर रेत पान करते हैं, किन्तु भद्रतनु को तो इन सब बातों की कोई चिन्ता ही नहीं थी। वह तो पाप पंक में फँसा ही था। वेश्या ने उससे देर में आने का कारण पूछा। उसने अत्यन्त ही स्नेह प्रकट करते हुए कहा—"प्रिये! क्या बताऊँ, इस लोक में रहकर कुछ न कुछ लोकाचार करना ही पड़ता है। आज मेरे पिता की श्राद्ध तिथि थी। मेरी इच्छा तो कुछ करने की नहीं थी, किन्तु ब्राह्मणकुल में जन्म लिया है करना

पड़ता है। इसीलिये दिखावे को आज मैंने श्राद्ध कर दिया। वैसे नियमानुसार तो आज मुझे ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये, किन्तु तुम्हारे प्रेम ने मुझे ऐसा पागल बना दिया है, कि उसके पीछे मैं किसी भी नियम धर्म की चिन्ता नहीं करता। मेरे लिये तो धर्म कर्म, यजन, पूजन, नियम व्रत एकमात्र तुम्हीं हो। तुम्हारे प्रेम पर मैं हजारों नियमों को न्योछावर कर सकता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"शौनकजी! भगवान् की लीला का पता नहीं लगता। वे किसके द्वारा जीवों को आलोक प्रदान करा दें। कभी-कभी घोर पापी के हृदय में बैठकर ऐसी प्रेरणा करा देते हैं, कि सुनने वालों का जीवन ही पलट जाता है। भद्रतनु की इस बात को सुनकर उस निन्दित वृत्ति से आजीविका करने वाली वेश्या के हृदय में बड़ा दुःख हुआ। वह उसे धिक्कार देते हुए बोली—"अरे, नीच! तुझ जैसे पुत्र को पैदा करके तेरे बाप ने सचमुच ही अपने वीर्य का दुरुपयोग किया। तुझे ९ महीने पेट में लादकर सचमुच तेरी माता ने बोझ ही सहा। पत्नी के ग्रहण करने का एकमात्र उद्देश्य होता है, सत्पुत्र की उत्पत्ति। सत्पुत्र की उत्पत्ति का एकमात्र उद्देश्य है, पिता को पुन्नामक नरक से बचाना मरने पर उसके श्राद्ध तर्पण आदि करना। तेरे पिता तुझसे कितनी आशाएँ परलोक में कर रहे होंगे। जब तू अपने स्वर्गीय सगे पिता का ही नहीं हुआ तो मेरा क्या होगा। मेरे जिस शरीर पर तू इतना लट्टू है। उसे ध्यान से देख इसमें क्या है। मेरे दाँत में उँगली लगाकर सूँघ कितनी दुर्गन्धि आवेगी। मैं नाक सिनकती हूँ उसे हाथ पर लेकर चाट फिर देख उसमें क्या स्वाद है। मेरे मुँह में थूक और खखार भरी है। आँखों में मैल, कानों में मैल, शरीर के रोम-रोम में पसीना। पेट में मल और मूत्र भरा है। जङ्घाएँ सदा मूत्र से भीगी रहती है। ऊपर से इस चर्म को उधेड़ कर देखे तो इसमें एक से एक अशुद्ध वस्तु भरी है। ऐसी देह के

पीछे तू अपने पितरों को आज रेत पिलाकर उन्हें नरक में डालना चाहता ? तुझे धिक्कार है।"

सूतजी कहते हैं—"शौनकजी ! आज वेश्या के मुख से ऐसी बातें सुनकर भद्रतनु को चेत हुआ। उसका मोह दूर हुआ। वेश्या के वाग्बाण ने लक्ष्य को बेध दिया। भद्रतनु ने उठकर उसके पैर पकड़े और रोते-रोते बोला—"देवि ! वेश्या होकर तुम्हारी ऐसी धर्म में निष्ठा है, इस बात का मुझे पता नहीं था। मैं ब्राह्मण होकर भी इतना पतित हो गया हूँ। मुझे धिक्कार है। हाय ! मैं अपने पिता के मल का कीड़ा ही हुआ। हाय मैंने इन इन्द्रियों के वशीभूत होकर अपना ब्राह्मणत्व नष्ट कर दिया। अब मेरा इन पाप से कैसे उद्धार हो।"

वेश्या ने जब यह समझा कि, मेरी बात का इस पर कुछ प्रभाव पड़ा, तो उसने कहा—"देखो, मैं तो कुछ जानती नहीं, तुम किसी सिद्ध महापुरुष की शरण में जाओ उनकी शरण में जाने से ही तुम्हारा कल्याण होगा।"

वेश्या की बात सुनकर भद्रतनु वहाँ से उस समय उठकर चल दिया। जगन्नाथपुरी में एक मार्कण्डेय रुद्र है। वह बड़ा पावन तीर्थ है। भद्रतनु वहीं जाकर बैठ गया। उसने सुन रखा था, कि भगवान् मार्कंडेय चिरजीवी हैं। वे सूक्ष्म शरीर से सदा विद्यमान रहते हैं और आराधना करने पर प्रकट भी हो जाते हैं। मन पश्चात्ताप से विघल रहा था। हृदय में जितना ही अधिक पश्चात्ताप होता है, उतनी ही अधिक करुणा उमड़ती है। करुणा वरुणालय भगवान् मार्कंडेय उसकी ऐसी दशा देखकर द्रवीभूत हुए और प्रत्यक्ष होकर उसे दर्शन दिये।

मार्कंडेय मुनि ने कहा—"वत्स ! तू क्या चाहता है ?"

रोते रोते भद्रतनु ने कहा—"प्रभो ! मैं महान पापी हूँ, मेरे उद्धार का कोई उपाय बताइये। मुझ पापी पर भी प्रभु प्रसन्न हो

सकें ऐसा किसी सरल सुगम साधना का मेरे लिये उपदेश करें।"

यह सुनकर भगवान् मार्कंडेय बोले—"देखो बेटा! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, कि वे वाणी से उपदेश नहीं देते। निरन्तर नित्य नैमित्तिक शुभ कर्मों में वे अव्यग्र होकर लगे रहते हैं, उनका तो जीवन ही उपदेश है। वे स्वयं आचरण करके आदर्श उपस्थित करते हैं। दूसरे ऐसे आचार्य होते हैं, कि स्वयं सत्कर्मों का आचरण भी करते हैं और समयानुसार सद् शिष्यों को सदुपदेश मंत्र दीक्षा आदि भी देते हैं। हमारा तो नित्य नैमित्तिक कर्म ही इतना लम्बा है, कि हमें वाणी से उपदेश देने का अवसर ही नहीं, अतः मैं स्वयं तो तुम्हे उपदेश दे नहीं सकता। हाँ मैं तुम्हे एक सदाचारी कर्मकांडी विशुद्ध आचार्य मुनि का पता बताता हूँ। यहाँ से पास के ही आरण्य में एक दान्त नामक मुनि रहते हैं। वे बड़े ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी विरक्त और सदाचारी हैं। तू उन्हीं की शरण में जा। वे ही तुम्हे उपदेश देंगे और उन्हीं के द्वारा तेरा उद्धार हो जायगा।"

इतना कहकर सहसा मार्कंडेय मुनि अन्तर्धान हो गये। भगवान् मार्कंडेय के आदेशानुसार भद्रतनु महामुनि दान्त के आश्रम में पहुँचते ही उनका चित्त शांत हो गया। सम्पूर्ण आश्रम ब्राह्मी श्री से शोभित था। पीतवसनधारी, बाल-ब्रह्मचारी आगम में इधर से उधर घूम रहे थे। यज्ञ के सुगन्धित धूम्र से सम्पूर्ण वायुमण्डल सुवासित बना हुआ था। अनेक देवों की पृथक् पृथक् पीठें बनी हुई थी। चारों ओर वेदघोष हो रहा था। चिकने चिकने पत्तों वाले बड़े ही सुहावने वृक्ष इधर-उधर लगे हुए थे। कुटियों पर बेलें चढ़ी हुई थीं। आश्रम झाड़ा बुहारा लिपा पुता स्वच्छ पड़ा था। एक ओर बहुत सी मोटे-मोटे ऐन वाली सुन्दर गौएँ बँधी थीं। पास में ही उनके मुनमुने-से छोटे छोटे बच्चे फुदुक रहे थे, कोई दूध पीने को मचल रहे थे, कोई परस्पर में

झुड्ड मारकर लड रहे थे, कोई दौड रहे थे, ब्रह्मचारी उन्हे पकड़ रहे थे। आश्रम को देखकर भद्रतनु का चित्त बडा प्रसन्न हुआ। सामने ही एक विशाल वट वृक्ष के नीचे सुन्दर स्वच्छ लिपे पुते एक चबूतरे पर, शिष्यो से घिरे हुए, भगवान् दान्त मुनि बैठे थे। भद्रतनु ने भूमि मे लोटकर उन्हे शाष्टाग प्रणाम किया।

दान्त मुनि ने जब भद्रतनु को बहुत दुखी देखा, ता दयावश उन्होंने पूछा—"वत्स ! तुम इतने दुखी क्यों हो ? अपने दुःख का कारण मुझे बताओ।"

कृपालु मुनि की बात सुनकर रोते-रोते भद्रतनु ने आदि से अन्त तक, बिना किसी छल कपट के अपना पूरा वृत्तान्त दान्त मुनि को सुना दिया। सब सुनकर मुनि समझ गये, इसे हार्दिक पश्चात्ताप है। सच्चा पश्चात्ताप हृदय मे हो जाय, तो फिर ऐसा कोई पाप नहीं हे, जिसका नाश न हो सके, अतः मुनि ने उसे भगवान् के १०८ नामों का उपदेश दिया और आज्ञा दी—"तुम इन्हीं का जप अनुष्ठान करते रहो, सयम पूर्वक रहना, तपस्या करते रहना। भगवान् कभी न कभी कृपा करेंगे ही।"

गुरुदेव से उपदेश पाकर भद्रतनु जाकर एकान्त मे बडी श्रद्धाभक्ति से भगवान् के उन सुमधुर नामों का जप अनुष्ठान करने लगा। उसकी ऐसी भक्ति देखकर ५ दिन के पश्चात् ही स्वयं साक्षात् श्री पुरुषोत्तम भगवान् उसके सम्मुख प्रकट हुए और वरदान माँगने को कहा। भगवान् के दर्शनो से अत्यन्त ही आह्लादित होकर उसने कहा—"भगवन् ! आपके दर्शन मुझे हो गये अब फिर माँगने को रहा ही क्या ? यदि आप देना ही चाहते हैं, तो अपने चरणों की भक्ति दे दीजिये और मुझे आपके सदा दर्शन होते रहें, ऐसी कृपा कीजिये।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात हे, यह सब तो हम देंगे ही,

किन्तु हमारा तुम्हारा सम्बन्ध स्वामी सेवक का नहीं रहेगा। आज से हम तुम दोनों मित्र हुए। अपना कपड़ा तुम हमें दे दो, हमारा कपड़ा तुम ले लो। इस प्रकार पगड़ी पलट मैत्री हो जाय।"

अब भगवान् जिसे जो बनाना चाहें, उसमें आपत्ति कर ही कौन सकता है? भद्रतनु ने स्वीकार किया अब वह यथार्थ में भद्रतनु हो गया। उसकी मैत्री पुरुषोत्तम भगवान् से हो गयी। मैत्री होने पर भी वह अपने गुरु के बताये हुए नियमों का पालन करते हुए भगवान् की प्रीति के निमित्त उपवासादि से शरीर को सुखाता रहा। भगवान् उसके साथ नित्य समुद्र तट पर जाकर गेंद खेला करते थे।"

भगवान् तो सखा ही हो गये थे। सखा के मानी हैं जो एकान्त में रहस्य की सुख-दुख की सभी बातें पूछे। अपनी गुप्त से गुप्त बातें बतावे और सखा के सुख में सुखी और दुख में दुखी हो। भद्रतनु को दुर्बल देखकर भगवान् ने पूछा—"सखे! तुम इतने दुर्बल क्यों होते जाते हो।"

भद्रतनु ने कहा—"भगवन्! मैं आपकी प्रसन्नता के निमित्त अपने गुरुदेव के बताये उपवासादि व्रत को करता हूँ, इससे शरीर कुछ कृश होगा।"

भगवान् ने अत्यन्त ममत्व के साथ कहा—"भैया, मुझे तुम्हारा यह तप प्रिय नहीं है। तुम मेरी प्रसन्नता के लिये इन रूखे नियम उपवासों को छोड़ दो। जैसे मैं रहता हूँ, वैसे रहा करो, तब मुझे प्रसन्नता होगी। जब तुम्हें मेरी प्रसन्नता प्राप्त ही हो गयी तो फिर कायक्लेश से क्या लाभ?"

भद्रतनु ने कहा—"प्रभो! मेरे सभी कार्य आपकी ही प्रसन्नता के लिये हैं। जिसमें आप प्रसन्न हों, वही मैं करूँगा।"

उसकी ऐसी बातें सुनकर भगवान् प्रसन्न हुए और उसका अपना ही जैसा वेष बना दिया। सिर के बालों में सुगन्धित तेल

डालकर सम्हाल दिया। माथे पर मुकुट, कानों मे कुण्डल पहिना दिये। बाहुओं मे कंकण, बाजूवन्द, पहिना दिये। रेशमी, पीताम्बर, रेशमी धोती, करधनी, कडे आदि सभी वस्त्राभूपण आपने उसे धारण करा दिये। अपने साथ ५६ प्रकार के भोजन कराये। खाने को ताम्बूल दिया। अब तो भद्रतनु छबीले की ही भाँति छल चिकनियाँ बन गये। वे वस्त्राभूपणों से सजकर नगर मे फिरने लगे। सबने समझा, चरित्रभ्रष्ट तो यह था ही १०-५ दिन अच्छा रहा, फिर जैसा का तैसा बन गया। सभी उसे धिक्कारते, किन्तु जैसे पहिले वह वेश्या के प्रेम के पीछे किसी की कुछ नहीं सुनता था, उसी प्रकार आज वह प्रभु का पुनीत प्रेम प्राप्त करके निर्भय हो गया था, ससारी लोग बकते हैं तो बकते रहें। उसकी टेक थी "सब जग छूटे तू नहिं रूठे। राम न रूठने पावे।" संसारी लोग बुरा कहते हैं कहते रहे। कोई किसी की जीभ को तो पकड नहीं सकता, निन्दकों को तो इधर की बातें उधर मिलाने मे बडा रस आता है। अपना चाहे कुछ स्वार्थ सिद्ध न होता हो, किन्तु दूसरों की निन्दा करने को मिले तो अपनी हानि करके भी भर पेट निन्दा करेंगे। लोगों ने एक की १०। १० जाकर दान्त मुनि से भिडायी —"अजी महाराज! आप कितने ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, सदाचारी वीतराग महात्मा हैं। आपके सदाचार की ख्याति सर्वत्र व्याप्त है, फिर भी आपने उस दुराचारी को अपना चेला बना लिया। बस आपके इसी एक कार्य से सर्वत्र आपकी अपकीर्ति हो रही है उसे तो बच्चा बच्चा जानता है, महा व्यभिचारी है। आपने जब उसे उपदेश दिया, तो हमे आशा थी कुछ सुधर जायगा। १०। १५ दिन एकान्त मे रहकर उसने कुछ जप तप किया भी, किन्तु फिर जैसा का तैसा ही। महाराज जी। आप बुरा न मानें मनुष्य का जैसा स्वभाव पड जाता है, वह छूटता नहीं। कुत्ते की पूँछ को आप चाहें जितने दिन सीधा

करके बाँध दें खुलने पर वह टेढ़ी की टेढ़ी ही रहेगी। रस्सी को आप भले ही जला दें उसकी ऐंठ न जायगी। वह तो अब फिर छैल चिकनिया रसिया बना इधर से उधर घूमता है। अबके उसने विचित्र वेप बनाया है। पता नहीं कहाँ से चोरी कर लाया है। बड़े सुन्दर-सुन्दर सुवर्ण के आभूषण पहिने हुए हैं। बहुमूल्य रेशमी धोती रेशमी पीताम्बर पहिने हैं। माथे पर मुकुट लगाया है। जाने कहाँ से ऐसा सुन्दर अंगराग ले आया है, कि उसे लगाते ही कामदेव के समान सुन्दर हो गया। जिधर से निकलता है, उधर ही सर्वत्र सुगन्ध भर जाती है। पान खाकर सैन मटकाता हुआ इधर से उधर छम्म-छम्म करके घूमता है। महाराज! हम तो उसकी ओर देखते भी नहीं। अब आपका चेला बन गया है। आपकी अपकीर्ति न हो इसलिये उसे डाँटिये फटकारिये हमसे तो वह बोलता ही नहीं।"

लोगों के मुख से ऐसी बातें सुनकर वृद्ध दान्त मुनि को भी दुःख हुआ। वे सोचने लगे, ये जीव स्वभाव से विवश हैं। प्रकृति विवश होकर जीव को पाप-पुण्य में लगा देती है। उसके पश्चात्ताप को देखकर मुझे दया आ गयी थी, उपदेश दे दिया। वह उसे अपनी दुर्बलता से पालन न कर सका। एक बार उसे और समझाने की चेष्टा करूँगा। समझ जायगा, तब तो अच्छा ही है न समझेगा तो अपने किये का फल भोगेगा। मेरा जो कर्तव्य है, उसे तो मुझे करना ही चाहिये।" यह सोचकर उन्होंने भद्रतनु को समझाने का निश्चय कर लिया।

एक दिन दान्त मुनि भगवान के दर्शन करके लौट रहे थे, कि मार्ग में छम्म-छम्म करता हुआ और अपनी आभा से दशों दिशाओं को आलोकित और सुगन्धित बनाता भद्रतनु को उन्होंने देखा। अपने गुरुदेव को देखकर भद्रतनु ने भूमि में लोटकर साष्टांग प्रणाम की। एकान्त स्थान था। बड़े स्नेह

से दान्त मुनि ने कहा—"अरे भैया ! भद्रतनु ! तैंने तो भैया हमारी सर्वत्र बडी अपकीर्ति फैला रखी है। सब कहते हैं, कि आपका शिष्य बडा दुराचारी है। फिर पहिले की भाँति पाप कर्म में प्रवृत्त हो गया। तू यदि अपने कुकर्मों को नहीं छोड सकता था, तो हमारे पास आया ही क्यों ? हमें तो सब जान-कर भी तेरे पश्चात्ताप को देखकर दया आ गयी, इसीलिये तुम्हें शिष्य बना लिया। गुरु को शिष्य के पाप-पुण्यों का भागी बनना पडता है। तेरी अपकीर्ति के कारण हमारी भी अपकीर्ति हो रही है। तुझसे साधन भजन नहीं हो सकता था, तो हमारा अपयश क्यों कराया।"

भद्रतनु ने कहा—"प्रभो मैं तो आपकी आज्ञा का ही पालन कर रहा हूँ।"

कुछ रोष के स्वर मे दान्त मुनि बोले—"मैंने तुझे यह कब आज्ञा दी थी, कि पान से ओठों को रगकर छैल चिकनियाँ बन कर इधर से उधर छम्म-छम्म करता हुआ बन ठनकर घुमा कर, मैंने तो भगवान् की प्रसन्नता के लिये तुझसे तप करने को कहा था।"

भद्रतनु ने विनीत भाव से कहा—"हाँ, भगवन् ! आपने जो आज्ञा की, मैंने उसका यथावत् पालन किया और आपकी कृपा से मेरे सब मनोरथ भी पूर्ण हो गये। मेरे ऊपर भगवान् ने कृपा की।"

आश्चर्य के साथ दान्त मुनि बोले—"तेरे क्या मनोरथ पूर्ण हो गये रे ! किस प्रकार भगवान् ने तुझ पर कृपा की ?"

गद्गद कण्ठ से भद्रतनु ने कहा—"प्रभो ! आपके बताये स्तोत्र का मैं निरन्तर अनुष्ठान करता रहा। पाँचवें दिन स्वयं साक्षात् जगदीश मेरे सम्मुख प्रकट हुए, मेरे ऊपर अनुग्रह की मुझे अपनी भक्ति प्रदान की और अपना सखा कहकर स्वीकार

कर लिया। अब वे नित्य ही मेरे साथ कन्दुकक्रीड़ा करते हैं। उन्हीं की आज्ञा से मैंने यह वेप बनाया है। उन्होंने ही स्वयं अपने करकमलों से मुझे ये वस्त्राभूपण पहिनाये हैं। उनके दर्शन होने पर भी तप करता था, किन्तु उन्होंने मुझे रोक दिया, कि तेरा कायक्लेश मुझसे सहन नहीं होता, मैं तेरे ऊपर वैसे ही प्रसन्न हूँ। उन्हें मेरे तप से क्लेश न हो इसीलिये मैंने तप छोड़ दिया। यदि आपकी आज्ञा ही हो, तो मैं फिर से करने लगूँ ?"

दान्त मुनि उपासक थे, ज्ञानी थे, सदाचारी थे। दूसरा कोई होता, तो इन बातों पर कभी विश्वास न करता, इसे सफेद झूठ समझता, किन्तु उन्होंने अविश्वास नहीं किया। सोचा—"भगवान् की कृपा का कोई नियम तो है नहीं। ये किसी साधन नियम में तो बँधे नहीं। पता नहीं, कब किस कार्य से कैसे, कहाँ, रीझ जायँ। भर्राये हुए कण्ठ से उन्होंने कहा—"भैया! भद्रतनु! तुम ही धन्य हो। ५ दिन में ही कृपालु कृष्ण ने तुम पर कृपा की। स्वल्पकालीन उपासना से ही उत्तमश्लोक प्रभु तुझ पर प्रसन्न हो गये। मुझे इस क्षेत्र में रहकर यम-नियम पूर्वक घोर तप करते सात हजार वर्ष हो गये। भगवान् जनार्दन ने अभी तक मेरे ऊपर कृपा नहीं की। मुझे अपनी अहैतुकी कृपा का अधिकारी नहीं बनाया। भैया, यदि तुम्हारा मुझ पर तनिक-भी स्नेह है तो भगवान् के दर्शन मुझे भी करा दो। मेरी भी उन सर्वेश्वर से शिफारिस कर दो। ये तो तुम्हारे सखा हैं मेरे तो स्वामी हैं। मैं कैसा भी हूँ फिर भी तुम्हारा गुरु हूँ, मुझे यही गुरुदक्षिणा दो। मेरे नेत्रों को सफल बना दो मेरे जीवन को धन्य कर दो। एक बार आँखें भरकर उस अनुपम छवि को निहार लूँ तो मेरे जप, तप, नियम, तीर्थ, व्रत, यज्ञ, याग सभी सफल हो जायँ। इतनी कृपा तुम मेरे ऊपर करो।"

गुरुदेव की ऐसी बात सुनकर भद्रतनु ने कहा—"प्रभो! मैं

अवश्य भगवान् से निवेदन करूँगा। मुझे विश्वास है वे मेरी बात टालेंगे नहीं। दान्त मुनि ने कृतज्ञता भरी दृष्टि से अपने शिष्य की ओर देखा। शिष्य ने गुरु चरणों में प्रणाम किया गुरुजी अपने आश्रम चले गये। भद्रतनु समुद्र तट पर चला गया।

दूसरे दिन भगवान् गेंद खेलने उसके समीप आये। बड़ी देर तक गेंद का खेल होता रहा, अन्त में भद्रतनु ने कहा—"प्रभो, कुछ निवेदन करना है ?"

भगवान् ने बड़े स्नेह से कहा—"अरे तुम हमारे सखा होकर ऐसी संकोच की बातें क्यों करते हो। जो तुम्हें कहना हो निर्भय होकर कहो।"

भद्रतनु ने कहा—"प्रभो ! आप मेरे गुरुदेव को दर्शन नहीं देते। यह क्या बात है ?"

भगवान् ने बड़े स्नेह से कहा—"भैया ! तुम इस सम्बन्ध में मुझे से कुछ मत कहो, वे अभी मेरे दर्शनों के अधिकारी नहीं है।"

भद्रतनु ने दीनता से कहा—"क्यों प्रभो ! मेरे ऊपर तो आपने ५ दिन में ही ऐसा अलौकिक अपूर्व अनुग्रह किया और वे तो ७ हजार वर्षों से घोर तप कर रहे हैं।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"भैया, तुम तो मेरी जन्मजन्मातरों से भक्ति कर रहे हो। कितने जन्मों से तुमने घोर तप किये हैं। यह तो तुम्हारा एक क्षुद्र-सा अशुभ संस्कार था, इससे तुम विषयासक्त हो गये। वह समाप्त हो गया, इसीलिये ५ दिनों में तुम्हें मेरा सख्य प्राप्त हुआ। तुम तो कई जन्मों से मेरे सखा हो। दान्त मुनि अच्छे हैं। इसी तरह मेरी कृपा की प्रतीक्षा करते रहेंगे तो कभी उन्हें भी दर्शन हो जायेंगे, इतनी शीघ्रता से इतने अल्प साधन से वे मेरा दर्शन कैसे प्राप्त कर

सकते हैं ? अभी वे मेरे दर्शन के अधिकारी नहीं हुए। उनके सम्बन्ध मे तुम मुझसे कुछ मत कहो।"

भगवान् की यह बात सुनकर अत्यन्त ही दीनिता के साथ भद्रतनु ने कहा—"प्रभो ! मैं इस योग्य तो हूँ नहीं, कि आपका सखा बन सकूँ। फिर भी शरणागत-वत्सलता के नाते आप मुझे अपना सखा, सुहृद् मित्र कहते हैं। तो महाराज, मित्रता का नाता तो निभाना चाहिये। मित्र यदि ऋणी हो जाय, तो मित्र को अपना धन देकर उसे उऋण करना चाहिये या नहीं ?"

भगवान् बोले—"अवश्य, मित्रकी तो प्राण देकर भी सहायता हो सके तो करनी चाहिये।"

इस पर भद्रतनु बोले—"तो प्रभो ! मैं भी ऋणी हूँ। मेरे ऊपर भी गुरुदक्षिणा रूपी ऋण चढ़ा है। गुरुदेव ने मुझसे कहा था, मुझे भगवान के दर्शन करा दो। मैंने उन्हें वचन दिया था, कि मैं अवश्य दर्शन कराऊँगा। मुझे विश्वास था कि आप मेरे आग्रह को कभी न टालेंगे, किन्तु आप तो ऐसी रूखी-रूखी बातें करने लगे। उनके अधिकार की बात तो वे जाने और आप जाने, किन्तु आप मुझे झूठा क्यों बनाते हैं, मेरे ऋण को चुकाइये। मेरी गुरुदक्षिणा यही है, कि उन्हें आपके दर्शन हों।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"अच्छा भैया ! अब तुम मित्र ही ठहरे। तुम्हारी बात कैसे टाल सकता हूँ। कल उन्हें इसी समय यहाँ ले आना। उन्हें भी दर्शन हो जायँगे।"

यह सुनकर भद्रतनु को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह दौड़ा-दौड़ा गुरुदेव के समीप गया और अत्यन्त ही उल्लास के साथ बोला—"गुरुदेव ! कल भगवान् ने आपको बुलाया है।" बस, फिर क्या था दान्त मुनि की प्रसन्नता का तो वारापार नहीं रहा। वह रात्रि उन्होंने प्रभु का स्मरण करते-करते ही बिता दी। प्रभु के ध्यान में तल्लीन हो गये। दूसरे दिन नियत समय पर

अपने शिष्य के सहित समुद्र तट पर गये। थोड़ी ही देर में सहस्र सूर्यों के समान प्रकाश हुआ। शंख, चक्र, गदा पद्म, धारण किये हुए भगवान् गरुड़ पर चढ़े वहाँ प्रकट हुए। भगवान् के दर्शन करते ही दान्त मुनि तो प्रेम के आवेश मे विह्वल हो गये, वे दंड की तरह पृथ्वी में पड़ गये। सर्वाङ्गों से उन्होंने सर्वेश्वर के पादपद्मों में प्रणाम किया। फिर गद्‌गद कंठ से विविध स्तोत्रों द्वारा भगवान् की स्तुति की और कहा—"प्रभो! आज, मेरे जप, तप, यज्ञ, अनुष्ठान, नियम, सदाचार, व्रत, भगवत्, पूजन, पाठ, नामस्मरण आदि समस्त शुभ कर्म सफल हुए। आज मैं कृतार्थ हो गया। आपके दर्शनों से धन्य-धन्य हो गया। मनुष्य जीवन का यथार्थ फल मुझे प्राप्त हो गया।"

भगवान् ने दान्त मुनि के मस्तक पर अपना वरद अभय कर कमल रखते हुए कहा—"मुनिवर दान्त! मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ, तुम इसी प्रकार मेरी आराधना करते हुए आयु के शेष समय को समाप्त करो। अन्त में तुम मेरे धाम को प्राप्त होगे।" इस प्रकार दान्त मुनि को वरदान देकर तथा भद्रतनु का प्रेमपूर्वक आलिंगन करके भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये।

भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर दान्त मुनि अपने आश्रम में आकर भगवान् की उसी छवि का स्मरण करते हुए कालक्षेप करने लगे। भद्रतनु भी कुछ काल मे इस मनुष्यतनु को त्यागकर मुक्त हो गये।

सूतजी कहते हैं—"सो, मुनियो! आप न समझें कि ध्रुवजी को ६ महीने की तपस्या से ही भगवान् के दर्शन हो गये हो। जैसे भद्रतनु ने जन्म जन्मान्तरो में भगवान् की आराधना की थी, उसी प्रकार ध्रुवजी ने भी पिछले जन्मों में यमनियमों का पालन करते हुए घोर तप किया था, वे तो एक वासना के वशीभूत होकर क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हो गये।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये ध्रुवजी पूर्व जन्म में कौन थे और उन्होंने कैसा तप किया था? किस वासना के वशीभूत होकर इन्हें जन्म लेना पड़ा। कृपा करके इस वृत्तान्त को हमें आप सुनाइये। इन भद्रतनु के चरित्र सुनकर हमें ध्रुवजी के पूर्वजन्म के चरित्र को सुनने को बड़ा कुतूहल हो रहा है।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज, ध्रुवजी पूर्वजन्म में बड़े तपस्वी थे, मुनि-पुत्र थे, किन्तु संग दोष से उन्हें ब्राह्मण से क्षत्रिय होना पड़ा। संगति का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार सत्संगति से मनुष्य तर जाता है, उसी प्रकार बुरी संगति से आदमी का पतन हो जाता है। इसलिये मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है, कि सदा विषयी लोगों के संसर्ग से बचा रहे। इन इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ही ओर होती है। बड़े यत्न से बलपूर्वक उसे हटाकर भगवान् की ओर लगाना पड़ता है, यदि ऐसी दशा में विषयों का संसर्ग हो जाय, तो मन उसमें ही फँस जाता है। उपासना से एकाग्र हुआ मन जहाँ लगता है, वहाँ बड़ी आसक्ति के साथ लगता है। देखिये, कितने त्यागी तपस्वी भरतजी का मन उस हरिण के बच्चे में लग गया। साधारण विषयी लोगों का मन चंचल होने से कामिनियों में भी क्षण भर को ही लगता है, किन्तु तपस्या उपासना से जिनका चित्त एकाग्र हो जाता है, ऐसे लोग विषयों में भी फँसे तो उनका चित्त तदाकार हो जाता है। कंडू मुनि के पास प्रम्लोचा नामक अप्सरा हजारों वर्ष रही, किन्तु उनका चित्त उसमें ऐसा तल्लीन हुआ कि उन्हें हजारों वर्ष क्षण के समान प्रतीत हुए, इसीलिये संग की बड़ी महिमा है।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! पूर्व जन्म में ध्रुवजी का किनका संग हुआ और कैसे वे ब्राह्मण से क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए। इसे आप हमें भली भाँति समझाइये।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्न को सुनकर सूतजी ध्रुवजी के पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाने को उद्यत हुए।

छप्पय

पाँच दिना तप कर्यो भद्रतनु भये मित्र हरि।
तिन गुरु तप अति कर्यो भये हरि दर्श नहीं परि॥
ऐसे ही प्रभु पूर्वजन्म महँ हरि आराधे।
जप, तप, संयम, नियम, कृच्छ्र, आदिक व्रत साधे॥
संग दोषतें विप्रतें, प्रकट राजकुल में भये।
मास षष्ठ में सुकृतवश, सफल मनोरथ ह्वै गये॥

संगति का प्रभाव

[२३५]

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि ।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः ॥*
(श्रीभा० ६ स्क० ६,अ० ५१ श्लो०)

छप्पय

मुक्ति चाह हिय होय संग विषयिनि को त्यागे।
भोगनितें मन रोकि देखि कामनिकूँ भागे॥
जैसे जल थल नीच निरखि उतकूँ ही ढरके।
तैसे भोगनि देखि चित्त उतकूँ ही सरके॥
मुक्ति बन्धकी साधु खल, संगति सच्ची युक्ति है।
विषयनि के सँग बन्ध है, साधुनि के सँग मुक्ति है॥

---

* भगवान् सौभरि ऋषि कहते हैं—"जो पुरुष मोक्ष की इच्छा रखने वाला हो, उसे दाम्पत्यधर्म वाले स्त्री पुरुषों में कभी आसक्ति न करनी चाहिये उनका संग सर्वथा छोड़ देना चाहिये तथा अपनी इन्द्रियों को कभी बाहिरी विषयों की ओर न जाने देना चाहिए। सदा एकान्त में रहकर उन अनन्त ईश्वर में ही अपने चित्त को लगा देना चाहिये यदि संग करना ही हो तो श्री भगवान् ही एक मात्र जिनके आराध्य हैं उन साधु पुरुषों का ही संग करना चाहिये।"

एक बड़ी प्रसिद्ध कहानी है। एक बहेलिया किसी वृक्ष की खोड़ से दो शुक के बच्चों को पकड़ लाया। एक को तो यवनों ने ले लिया और दूसरा वेदज्ञ ब्राह्मणों की पाठशाला मे पला। संयोग से दोनों फिर बहेलियो के यहाँ आ गये। बहेलिया उन्हें लेकर राजा के यहाँ बेचने गया। सुन्दर शुक शावकों को देखकर राजा को प्रसन्नता हुई। बहेलिया से उनके दाम पूछे। उसने पाठशाला में पले बच्चे का मूल्य एक लाख रुपये बताया और यवनों के यहाँ पले हुए का एक कौड़ी मूल्य बताया। राजा ने आश्चर्य से पूछा—"देखने में तो ये एक से ही सुन्दर स्वरूपवान् प्रतीत होते हैं फिर इनके मूल्य मे अन्तर क्यो है ?" बहेलिया ने कहा—"अन्नदाता! ये दोनों सगे भई हैं। इनके मूल्य में अतर क्यों है, इसे आप स्वय जान लेंगे।" राजा ने कहा—अच्छी बात है, हम जब जान लेंगे तब दोनों का दाम दे देंगे। बहेलिया चला गया, राजा नित्यकर्म से निवृत्त होकर भोजनादि करने के अनंतर अन्तःपुर में अपनी रानियों के साथ बैठे। विनोद के लिये उन्होंने दोनों शिशु शावकों को मँगाया। जो पाठशाला वाला बच्चा था, वह तो बड़े सुन्दर-सुन्दर श्लोक बोलने लगा। राजा का चित्त उसकी मीठी वाणी से श्लोक सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। जब दूसरे से बोलने को कहा तो वह ऐसी बुरी-बुरी अश्लील गालियाँ बकने लगा कि रानियाँ कानों में उँगलियाँ देकर भागीं। युवती राजकुमारियाँ मारे लज्जा के महाराज के सामने से उठ गयीं। महाराज को आश्चर्य हुआ कि ये दोनों भाई भाई हैं, फिर भी इनमें इतनी विपरीतता क्यों हुई। उस पाठशाला वाले से ही पूछा "भैया, तुम दोनों सगे भाई हो फिर भी तुम दोनों मे इतना अंतर क्यों पड़ गया ?"

यह सुनकर वह सुग्गा बोला—"प्रभो ! सुनिये, हम दोनों में इतना अन्तर क्यों पड़ा—

अहं मुनीनां वचनं शृणोमि शृणोति राजन् यवनस्य वाक्यं।
न चास्य दोषो न च मे गुणो वा संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति॥

महाराज! मैं तो मुनियों के संसर्ग में रहकर उनके मुख से सदा शास्त्र वाक्यों को सुनता रहता था और यह सदा यवनों के संसर्ग में रहकर गाली गलौज सुनता था। मैं जो बोल रहा हूँ इसमें न तो कोई विशेषता है और न विचारे इस मेरे भाई का कुछ दोष है। मनुष्य में गुण अवगुण संसर्ग से आते हैं। जैसी संगति होगी वैसे ही गुण मनुष्यों में आ जायेंगे। संगति का बड़ा प्रभाव होता है, इसीलिये मोक्ष की इच्छा रखने वालों को भूलकर भी विषयी लोगों से संसर्ग, उनसे घनिष्टता नहीं करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे ध्रुवजी के पूर्व जन्म का वृत्तान्त पूछा था। उसे मैं आप सबके सम्मुख सुनाता हूँ आप सब उसे समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें। ध्रुवजी पूर्वजन्म में एक बड़े ही ज्ञानी ध्यानी तपस्वी सदाचारी मुनि के पुत्र थे। वे वन में रहकर घोर तप करते थे। एक बार उस देश का राजा आखेट के लिये उस अरण्य में आया। मुनि ने उनका अतिथि धर्म के अनुसार आतिथ्य किया। राजा के साथ उनका अत्यन्त ही सुन्दर सुकुमार राजकुमार भी था। मुनि पुत्र का उस इतने सुन्दर सजे बजे मनोहर राजकुमार को देख कर चित्त स्वयं ही उसकी ओर आकर्षित हुआ। राजकुमार सुशील था। उसे अपने धन श्रेष्ठ कुल का सौन्दर्य का अभिमान नहीं था। मुनि पुत्र ने संकोच के सहित उससे एक दो बातें कहीं। मुनियो! ये आँखें और वाणी ऐसी हैं, कि मनुष्य में परस्पर में सम्बन्ध करा देती हैं। मनुष्य आँखों से किसी को न देखे, वाणी से किसी से न बोले, न किसी की वाणी सुने तो

किसी के भी संग न हो। ये आँखें इतनी बुरी हैं कि जहाँ फँस जाती हैं, वहाँ मन को स्वतः ले जाती हैं। जहाँ चार आँखें हुईं कि सकेत में ही मन के सब भाव कह देती हैं। रहे सहे संदेह को यह वाणी मिटा देती है। मीठी वाणी दो पृथक् प्राणियों को जुटा देती है और कड़वी वाणी दो जुटे हुए सटे हुए पुरुषों को पृथक् कर देती है। वाणी में ही विष है उसी में अमृत भरा है। शत्रुता और मित्रता ये आँखें और वाणी ही करा देती है। राजपुत्र से यह बात छिपी न रही, कि मुनि पुत्र का मेरे प्रति सहज अनुराग है, मुझे हृदय से प्यार करते हैं। उनसे बड़े स्नेह से कहा—"मुनिवर! जैसे हम आपके यहाँ आये हैं वैसे आप भी एक बार हमारे यहाँ पधारें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मित्रता को बढ़ाने वाली वस्तु ये ही हैं, आप हमारे यहाँ आइये। हम आपके यहाँ आवें। हम आपके घर खाते हैं आप हमारे घर खावें। हम अपनी भीतरी से भीतरी छिपी से छिपी सुख दुःख की बातें सुनाते हैं, आप हमें अपने हृदय की बात सुनावें। हमारी चीज तुम्हारी, तुम्हारी चीज हमारी। छोटे-छोटे बच्चे जब मित्रता जोड़ते हैं तो कनिष्ठा उँगलियों को मिलाकर चूमते हैं और मन्त्र पढ़ते हैं "कुआ में चबैना यार माँगे सोई देना। कुआ में सुपारी मेरी तेरी बारह बरस की यारी।" सो इसी प्रकार उन दोनों में भी यारी हो गयी।

राजपुत्र अपने पिता के साथ चला गया। इधर मुनि पुत्र को उसी की मनमोहिनी सूरत सदा याद आती रही। कैसा सुन्दर सुकुमार था। कितने पुण्यों से राजा के घर में जन्म होता है। उसका एक एक अंग कितना सुडोल सुकुमार और चित्त को हरने वाला था। मैंने उसके गोरे-गोरे कमल की पंखुड़ियों के सदृश अत्यन्त गुलगुले हाथ को छुआ था, मानो उसमें सेमर की रुई भर रही

हो। कितना कोमल स्पर्श था उस कुमार का। मेरे तनिक दबाने पर उसकी सब उँगलियाँ लाल हो गयीं थीं। उसकी वाणी कितनी मधुर थी मानों कोकिल कूज रही हो। कैसे वस्त्राभूषण वह पहने हुए था। उसका हार कैसे दमदमा रहा था।

अब मुनि-पुत्र तो जप तप सब भूल गया। उस राजकुमार का ही चिन्ता करने लगा। कुछ काल के अनन्तर पिता से आज्ञा लेकर वह राजकुमार के घर गया। राजकुमार भी उसे प्यार करता था। मुक्त हृदय से उसने मुनिपुत्र का स्वागत सत्कार किया। उसने कोई भेद भाव नहीं रखा। मुनिपुत्र राजपुत्र के ससर्ग मे रहकर सम्पूर्ण सुखों को भोगते। बिना सकोच के उसके अन्त.पुर में जाते। कुछ काल के अनन्तर दोनों के पिता मर गये। राजपुत्र राजा हुआ। मुनिपुत्र मुनि हुए। फिर भी दोनों का सम्बन्ध बना रहा। राजा के ससर्ग से मुनि के मन में भी राजसी भोगों को भोगने की इच्छा बलवती हो उठी। वे ही मुनि मरकर महाराज उत्तानपाद के यहाँ ध्रुव रूप मे उत्पन्न हुए।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! कोई बात बुरी तो थी नहीं। राजा और मुनियो का सत्सग हुआ ही करता है। हमारे यहाँ ही कितने राजा आते हैं हम भी राजा के घर जाते हैं, जो श्रद्धा से हमारा आतिथ्य करते हैं। भोजन की सामग्री देते है, उसे उनकी प्रसन्नता के ही निमित्त सही, स्वीकार करते ही हैं। फिर ध्रुवजी को राजपुत्र की सगति से ऐसा दुष्परिणाम क्यों हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज, यों सत्सग का दोष नहीं। ऐसे मनुष्य सत्सग न करे तो कहाँ रहे। बधन का कारण है आसक्ति। देखिये, इस विषय मे मैं आपको दृष्टान्त सुनाता हूँ।"

एक राजा थे, उनकी किसी सन्यासी से मैत्री हो गयी। सन्यासी भी राजा को बहुत प्यार करते। अब सन्यासी तो राजा

का चिन्तन किया करते और राजा संन्यासी का। दोनों एक साथ ही मरे। संन्यासी तो दूसरे जन्म में राजा हुए और राजा संन्यासी हुए। संन्यासी की अवनति हुई, राजा की उन्नति हुई। राजा जातिस्मर हुए, किन्तु सन्यासी को अपने पूर्वजन्म की कुछ भी स्मृति नहीं थी। एक बार घूमते हुए संन्यासी जी राजा के यहाँ पहुँचे। राजा ने संन्यासी का आदर सत्कार किया। विधिवत् पूजा करके उनसे उपदेश की जिज्ञासा की। संन्यासी जी ने कहा—"मैं एकान्त में उपदेश करूँगा।" दोनों एकान्त में गये तब संन्यासी बोले—"राजन्! आप मुझे जानते नहीं। पूर्व-जन्म में मैं राजा था, तुम संन्यासी थे। तुम्हारी मुझमें आसक्ति थी, मेरी आप मे। इसी के परिणामस्वरूप तुम राजा हुए मैं संन्यासी हुआ। संन्यासी होकर भी तुम्हारा चित्त राजसी भोगों में आसक्त हो गया था। मरते समय तुम्हे राजसी भोगों की इच्छा हुई, इसीलिये आपको ये भोग प्राप्त हुए। मैं मरते समय संन्यास धर्म की स्वच्छन्दता का स्मरण कर रहा था, इसलिये मरकर मैं सन्यासी बना। अब हम इन विषयों की आसक्ति छोडकर श्रीहरि में आसक्ति करें, जिससे इस संसार के आवागमन से सदा के लिये छूट जायँ। इतना सुनते ही राजा हँस पड़े और बोले—'महाराज, आपकी तो बन गयी, मेरी बिगड़ गयी। किन्तु 'बीती ताहि बिसार दो आगे की सुधि लेउ' अब मैं इस राज्य-पाट को छोडकर संन्यासी हूँगा।'

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उनके साधारण संस्कार थे, कोई प्रबल आसक्ति नहीं थी, इसीलिये उन भोगों को भोगकर अन्त में फिर संन्यासी हुए और भगवद् आराधना करके परम पद के अधिकारी हुए। यह मैंने आपको संग दोष का कारण बताया अब आप जो और पूछना चाहें पूछें।'

शौनकजी ने पूछा—'सूतजी! हमें एक सन्देह है। जीवन

भर जो जप, तप पूजा पाठ करते हैं, उसका तो कुछ प्रभाव होता नहीं और मरते समय जो कुछ भी संस्कार हो जाते हैं, उसका इतना शीघ्र प्रभाव क्यों पड़ जाता है ? इसका कारण बताइये।"

यह सुनकर सूतजी कुछ गम्भीर हो गये और बोले—महाराज, यह कर्म वासना अनादि है, इस विषय में कोई निर्णय नहीं किया जा सकता, ये संस्कार किस जन्म के हैं, ये किस समय उदित होते हैं। शास्त्रकारों ने निर्णय यही किया है, कि "अन्ते या मतिः सा गतिः" अन्त में मनुष्य जैसे संस्कार लेकर मरेगा, वैसे ही उसकी गति होगी। बन्धन का कारण वासना ही है। मरते समय जैसी वासना उदय हो जाती है, दूसरे जन्म में वैसा ही जन्म मिलता है और उस वासना की पूर्ति होती है। भगवान् के भक्त ४ प्रकार के बताये हैं, आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इन सबमें निष्काम भक्त को सर्वश्रेष्ठ बताया है। किसी इच्छा से भगवान् की भक्ति करना यह तो बनियापन है, कि मैं यह देता हूँ, इसके बदले में तुम मुझे यह दो। निष्काम भक्त तो भगवान् से कुछ भी नहीं चाहता। जो कुछ नहीं चाहता वही सब चाहता है, जो सब कुछ चाहता है, उसे उतना ही मिलता है। कर्म तो व्यर्थ जाता नहीं, किन्तु निस्पृह भाव से कर्म का महत्त्व और बढ़ जाता है। इस विषय को आगे मैं स्पष्ट करके समझाऊँगा। आप इसे समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

पूर्व जन्ममहँ रहे तपस्वी ध्रुवजी मुनिवर।
राजपुत्र सँग कर्यो विषय सुख लागे सुखकर॥
चिन्तनतें आसक्ति बढ़ी विषयनिमहँ उनकी।
इच्छा मनमें भई राजसी सुख भोगनकी॥
अन्त समय मनमहँ रहे, जैसी इच्छा जासुकी।
अपरजन्ममें भावना, पूरी होवे तासुकी॥

निष्काम भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है

[२३६]

न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो
रजोजुषस्तात भवादृशा जनाः ।
वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो
यदृच्छयालब्धमनः समृद्धयः ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ९ अ० ३६ श्लोक)

छप्पय

काम करे कुछ किन्तु न इच्छा फलकी होवै ।
सुखमें फूले नहीं दुःखमें दुखी न रोवै ॥
कृष्णार्पण करि करे शुभाशुभ सौंपे उनकूँ ।
करे कर्म कर्तव्य धरे हरिचरननि मनकूँ ॥
कर्यो करूँ जो करूँगो, सब कुछ प्रभु तुम ई करो ।
कर्ता भोक्ता हौं नहीं, कर्यो तुमनि तुम ई भरो ॥

कर्म का फल कर्ता की भावना के अनुसार होता है, न कि कर्म के अनुसार। एक काम को ही वेतनिक भृत्य करता है, तो

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! आप जैसे भगवद्भक्त पुरुष जो अपने आप ही प्राप्त हुई वस्तु में मन को सन्तुष्ट रखने वाले हैं तथा मुकुन्द भगवान् की चरणकमल के रज का सेवन करने वाले हैं, वे श्रीहरि से उनके दासत्व को छोड़कर और किसी भी वस्तु की याचना नहीं करते ।"

उसका कोई महत्व नहीं, जितने पैसा उनके श्रम के होते हैं दे देते हैं। द्रव्य पाकर वह चला जाता है, किन्तु उसी काम को हमारे कोई अत्यन्त प्रेमी-बिना वेतन की इच्छा से-प्रेमवश करते हैं, तो उनका वह कार्य हमें जीवन भर याद रहता है। हमारा दैनिक भृत्य है, कहीं से बड़े श्रम से उखाड़कर एक वटवृक्ष लाया। लगा दिया, कोई बात नहीं, नौकर ही है उसने आज और कोई काम न किया यही सही। लगाकर अपना वेतन लेकर चला गया, किन्तु उसे ही हमारे कोई प्रेमी इतना श्रम करके लगाते हैं, तो हम जीवन भर उनके कृतज्ञ रहते हैं। जब भी उस वृक्ष को देखते हैं, उनकी याद आती है। सबसे कहते हैं—"वे आये थे, स्वयं बड़े श्रम से अपने हाथों से इसे लाये और लगा गये थे जब आते हैं तो कहते हैं—"देखिये, आपका वृक्ष कितना बड़ा हो गया।" इस कथन का सारांश इतना ही है, कि फल की इच्छा रखकर किया हुआ कार्य इसी जन्म में सफल ही हो यह नियम नहीं। यदि सफल भी हुआ तो उससे इतना ही फल मिलेगा, जितने फल के उद्देश्य से यह आरम्भ किया गया था। यदि यही भगवत् प्रीत्यर्थ सांसारिक कामनाओं से रहित होकर किया जाय, तो उसे भगवान् ग्रहण करते हैं। भगवान् अनन्त हैं, अतः वह कर्म भी अनन्तरूप हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ध्रुवजी से पूर्वजन्मों की तपस्या के प्रभाव से उन्हें ६ ही महीने में भगवान का साक्षात्कार हो गया। भगवान के दर्शनों के अनन्तर उन्हें पश्चात्ताप हुआ— "हाय ! मैंने निष्काम भाव से भगवद् उपासना न की, नहीं तो मेरा आवागमन ही छूट जाता। अब ३६ हजार वर्ष पृथ्वी पर रहना पड़ेगा, फिर पर्यन्त ध्रुवलोक में, ये सब भी मान बढ़ाने वाले हैं। मुक्तिदाता प्रभु से भी मैंने मान ही माँगा। मोह मद में मुक्ति नहीं माँगी।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! कर्म तो एक-सा ही है। विना फल की इच्छा से तो संसार में कोई कर्म हो ही नहीं सकता। कर्मों में प्रवृत्ति फल को आगे रखकर ही होती है। किसान बीज बोता है, तो पहिले ही सोच लेता है, एक बीज के हजार बीज होंगे। न हों यह दूसरी बात है, किन्तु उसे यह विश्वास न हो कि मेरे बीज एक से बहुत न होंगे, तो वह कभी बीज बोये ही नहीं। भोजन बनाने में प्रवृत्ति भूख को मिटाने की इच्छा से होती है। वृक्ष लगाने में पहिले ही हम सोच लेते हैं, कि इस पर सुन्दर फल लगेंगे। ऐसा न हो-फल की इच्छा न हो-तो फिर लोग आम, जामुन कटहल, सतरा आदि के सुन्दर वृक्ष क्यों लगावें फिर तो आक धतूरा जो भी मिले उसी को लगा दें क्योंकि लगाना चाहिये। फल की तो हमें इच्छा ही नहीं। फिर तो ससार का कोई काम ही न हो, अतः हमारी सम्मति में निष्काम कर्म पहिले तो हो ही नहीं सकता, यदि हो भी तो वह निष्प्रयोजन निरर्थक है। प्रत्येक कार्य में उसके करने का कुछ कारण होता है। बिना कारण के तो वेद भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता फिर ध्रुवजी ने निष्काम कर्म की इतनी प्रसशा क्यों की ?"

इस प्रश्न को सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाभाग ! आप सत्य कह रहे हैं। कर्म करने का कुछ न कुछ उद्देश्य होता है, कोई न कोई फल की इच्छा होती ही है, किंतु वह इच्छा, भगवान् म प्रीति हो, यही सर्वश्रेष्ठ इच्छा है। भगवत् प्रेम की इच्छा इच्छा नहीं कही जाती। फल की इच्छा से किये हुए सब कर्म बन्धन के हेतु हैं, किन्तु मेरे इस कर्म से सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रसन्न हों, इस फल की इच्छा से किया हुआ कर्म किसी प्रकार के बधन में नहीं बाँधता। यही नहीं वह समस्त संसारी बन्धनों को काटकर प्रभु के पादपद्मों तक पहुँचाता है। सांसारिक वस्तुओं भोगों

की इच्छा से किया हुआ कर्म सीमित होता है। उसका फल भी परिमित ही होता है, किन्तु कृष्णप्रीत्यर्थ किया हुआ कर्म अपरिमित हो जाता है, उसका महान फल होता है। इस विषय में मैं आपको एक छोटा सा दृष्टान्त सुनाता हूँ उसी से आपको विदित हो जायगा, कि निष्काम कर्म का कितना भारी महत्त्व है।

एक राजा थे, बड़े धर्मात्मा। एक बार उनके राज्य में अकाल पड़ा। प्रजा के लोग भूखों मरने लगे। राजा ने सोचा मैं कोई ऐसा कार्य आरम्भ कर दूँ जिससे लाखों मनुष्यों को जीविका का सहारा हो जाय। इससे प्रजा की भलाई भी होगी और आगे को भी राज्य का उपकार होगा। यह सोचकर उन्होंने अपने राज्य में एक बड़ी भारी नहर खुदवानी आरम्भ कर दी। लाखों आदमी उसमें काम करते, दिन भर परिश्रम करते, रात्रि में अपनी मजदूरी लेकर चले जाते।

उसी राज्य में एक धर्मात्मा घसियारा भी रहता था। वह घास खोदकर जो भी पैसे मिलते उसी में सन्तुष्ट रहकर भगवान् का भजन करता। वह जो भी कुछ करता भगवान की प्रीति के ही निमित्त करता। उसने जब सुना—"राजा इतना धर्म का कार्य कर रहे हैं, तो उसके मनमें भी आया राजा समर्थ हैं, वे ऐसा कार्य करके जनता रूपी जनार्दन की सेवा कर रहे हैं। मुझमें उतनी शक्ति नहीं है, किन्तु जितनी भी है उसी से मैं भी राजा के शुभ कार्य में योग दूँ। इससे सर्वान्तर्यामी प्रभु प्रसन्न होंगे।" यह सोचकर वह भी मजदूरों में जाकर काम करने लगा। दिन भर बड़े श्रम के साथ कार्य करता, किन्तु जब मजदूरी बँटने का समय आता, तो धीरे से चला जाता। वह सोचता था—अपने पेट भर को तो मुझे घास से ही मिल जाता है, फिर मैं पैसों को क्या करूँगा। मेरा कार्य पैसों के लिये नहीं है, श्रीकृष्ण की प्रीति के निमित्त है।

थोड़े दिनों में यह बात फैल गयी, कि एक मजदूर दिन भर कार्य तो करता है, किन्तु मजदूरी नहीं लेता। होते-होते बात राजा तक पहुँची। राजा बड़े धार्मिक थे इस बात से उन्हें बड़ा कुतूहल हुआ। उस निष्काम कर्म करने वाले व्यक्ति के दर्शनों के लिये राजा की उत्सुकता बढ़ी। वे स्वयं उसके पास पहुँचे और पूछने लगे "भाई हमने सुना है, तुम श्रम तो सबसे अधिक करते हो। बिना कहे ही काम में लगे रहते हो, किन्तु श्रमिक द्रव्य नहीं लेते इसका क्या कारण है ?"

उस घसियारे ने हाथ जोड़कर अत्यन्त ही विनय के साथ कहा—"देव, आप कितनी धर्म-बुद्धि से जनता रूपी जनार्दन की सेवा कर रहे हैं। भगवान् ने आपको सामर्थ्य दी है जो वृहद्रूप में श्रीहरि की उपासना कर रहे हैं। मुझे भगवान् ने सीमित सामर्थ्य दी है, उसी के द्वारा मैं उनके ऊपर पत्र पुष्प चढ़ा रहा हूँ। राजा का दान प्रजा का स्नान। बराबर ही बताया है। आप जो भगवान् की उपासना कर रहे हैं, उसमें दो तन्दुल मैं भी डालकर उन सर्वान्तर्यामी के चरणों में श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर सकूँ। पैसे लेकर मैं अपनी पूजा को बेचना नहीं चाहता। उसे सीमित बनाने की मेरी इच्छा नहीं है खाने भर को मुझे घास से मिल जाता है; अतः प्रभो! मैं जो यह श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रहा हूँ, इसे करने दें। इसमें विक्षेप न डालें।"

राजा उसकी ऐसी निष्काम भावना देखकर गद्गद हो उठे और अपने को धन्य मानते हुए सोचने लगे—"इतना धर्मात्मा आदमी जब मेरे राज्य में है, तब मेरे राज्य में कभी अकाल नहीं पड़ सकता।" उस समय राजा ने कहा—"आज से आप मेरे राज्य के प्रधानमन्त्री हुए।"

उसने दीनता के साथ कहा—"धर्मावतार! मैं न कुछ पढ़ा

न लिखा, आप मेरे सिर पर इतना गुरुतर भार क्यों लाद रहे है ? मैं तो घास खोदना जानता हूँ, राजकाज में क्या जानूँ ?"

महाराज ने गम्भीरता के साथ कहा—"पढ़े लिखे तो मेरे यहाँ बहुत हैं। पढ़े लिखों की कमी नहीं, मुझे तो पढ़ों की अपेक्षा गुणी चाहिये। शुद्ध भावना वालों की आवश्यकता है। आप जब निष्काम भाव से घास खोद सकते हैं, तो निष्काम भाव से राज्य प्रबन्ध भी कर सकते हैं। आपको मेरा यह आग्रह स्वीकार करना ही पडेगा।"

महाराज की बात सुनकर उसने अत्यन्त विनय के साथ कहा—"बहुत अच्छा महाराज ! जब आपकी आज्ञा है तो मुझे तो आपके राज्य में रहकर कुछ न कुछ मजदूरी करनी ही है। घास न खोदकर आपकी आज्ञा का पालन ही करूँगा।" यह कहकर उसने समस्त राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली।

उसे कुछ लोभ लालच तो था नहीं। राज्य में बहुत-से लोग ऐसे होते हैं, जो घूँस लेकर अकार्य कर्म करते हैं, प्रजा को पीड़ा पहुँचाते हैं। उसने सबसे पहले ऐसे ही लोगों पर शासन किया। जिनका कम वेतन था, उनका यथेष्ट वेतन बढ़ा दिया गया जिनका बड़ा परिवार था उनके परिवार के पालन का प्रबन्ध किया, किन्तु घूँस लेना महा अपराध घोषित कर दिया।

जिन लोगों को श्रम के बिना बहुत-सा द्रव्य लेने की बान पड जाती है, वे लोग निर्वाह मात्र से सन्तुष्ट होते नहीं, अतः सभी लोग उस नवीन प्रधान मन्त्री के द्वेषी हो गये। जो मंत्री अभी तक मनमानी करते रहते थे, बूढ़े थे, कुलीन थे उन्हें घसियारे के अधीन रहना पड़ता था। उनकी आय भी अब बन्द हो गयी, अतः वे सबके सब उसके विरुद्ध होकर राजा से उसकी भाँति-भाँति की निन्दा करने लगे।

राजा तो धर्मात्मा थे, उन्होंने किसी की बात पर ध्यान नहीं

दिया। इधर उस घसियारे मन्त्री को उसे जितना द्रव्य मिलता परमार्थ में व्यय करता। अनाथ, असहाय, बालक, विधवा तथा साधु सन्तों की सेवा करता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! परमार्थ में कुछ ऐसी वृद्धि है, कि जो निष्काम भाव से परमार्थ करता है, न जाने भगवान् उसे कहाँ से देते हैं। उसका दान ऐसा अक्षय हो जाता है, कि आस-पास के लोग जो पैसे-पैसे को प्राण देते हैं, वे आश्चर्य करते हैं, कि इसे इतना द्रव्य कहाँ से मिल जाता है। उन्हें पता नहीं, कि जो अनन्त की उपासना करता है, उसकी सब वस्तुएँ अनन्त हो जाती हैं। वे कभी चुकतीं नहीं। सब लोग यही समझने लगे, कि यह राज्य के रुपये लेकर अपना घर भरता है और अपने पाप छिपाने को इतना धर्म पुण्य भी करता है। इसलिये सबने मिलकर एक षड्यन्त्र रचा। राजा को उसकी चोरी दिखाने को एक पुराने बूढ़े प्रधान मंत्री को नियुक्त किया। २-४ मंत्री और भी उसकी बात का समर्थन करने महाराज के पास गये और बड़ी दृढ़ता के साथ बोले—"महाराज, आप हमारी बात पर तो ध्यान देते नहीं। यह कहाँ से घसियारा लाकर आपने हमारे सिर पर बैठाल दिया है। न इसके कुल का पता न गोत्र का। ढोंग तो इसने ऐसा रच रखा है, कि कोई घूँस न ले प्रजा से द्रव्य न लूटे, किन्तु स्वयं राज्य कोष से द्रव्य निकालकर अपना घर भरता है और पाप छिपाने को दरिद्र, कंगाल, विधवा तथा साधु सन्तों को खिलाता है। राजकोष पर पूरा अधिकार जमा लिया है। कोषाध्यक्ष को भी भीतर जाने नहीं देता। घन्टों कोषागार में बैठा रहता है। वहाँ से मनमाना धन लेकर चला जाता है। उसका हाथ कौन पकड़े। महाराज, यदि इसका ही प्राधान्य रहा तो हम तो सेवा करने में असमर्थ हैं।"

सब लोगों की बार-बार ऐसी बातें सुनकर आज राजा को भी सन्देह हुआ। सम्भव है ऐसा होता हो गरीब आदमी था, सहसा इतना बड़ा अधिकार मिल गया मन विचलित हो गया होगा। इसलिये वे उन मन्त्रियों से बोले—"देखो, भाई! हम यस ना मानने के नहीं। हमें अपनी आँखों से दिखाओ तो माने।"

मन्त्रियों ने बड़े साहस से कहा—"हाँ, अन्नदाता! आज आप देखें। कोषागार में घन्टों बैठा रहता है और जब निकलता है तो बगल में एक पोटरी में द्रव्य भरकर निकल आता है। इधर से एक झूठे ही दिखाने को एक पोटली-सी ले जाता है। वहाँ से निकलता है तो उसे भरकर निकलता है। आज ही सायंकाल को आप देखें।"

महाराज बड़ी उत्सुकता से सायंकाल की प्रतीक्षा करने लगे। बनियाँ मन्त्री समस्त राज-काज से निवृत्त हुए अपने यहाँ से एक छोटी-सी पोटली बगल में दबाकर वे प्रधान कोषाध्यक्ष के समीप पहुँचे। उनसे कोषागार की चाभियाँ लीं। नियमानुसार उन्होंने समस्त नौकर चाकर सेवकों को वहाँ से हटा दिया। भीतर से कोषागार का दरवाजा बन्द कर लिया। महाराज का हृदय धड़क रहा था। उनका अविश्वास बढ़ता जाता था। मंत्रियों का मुख उज्ज्वल खिलता जाता था। उनका हृदय बाँसों उछल रहा था, कि आज यह कंटक रूप बनियाँ सदा के लिये दूर हो जायगा। कोषागार में एक खिड़की थी। कोषाध्यक्ष ने आज उसे ऐसी चातुरी से खोल रखा था, कि बाहर से भीतर की सब बातें दिखाई दें, किन्तु भीतर वाले को पता न चले, कि खिड़की खुली है। महाराज को उस खिड़की पर बिठा दिया। तनिक खिड़की का पल्ला हटाकर महाराज ने देखा कि, उस बनियाँ मंत्री ने समस्त राजकीय वस्त्र उतारकर एक ओर रख दिये

हैं। वही अपनी फटी पुरानी मेजो अंगरखा पहिन ली है। उस पुटली में से अपनी पुरानी खुरपी निकालकर आगे रख ली है। घुटने टेककर सिर को भूमि में लगाकर भगवान् की छवि के सम्मुख वह हाथ जोड़कर गद्गद् कंठ से स्तुति कर रहा है—"हे प्रभो! मैं वही घसियारा हूँ, जिसको सब लोग तिरस्कार और हेय दृष्टि से देखते थे। आज आपने मुझे इतने उच्च आसन पर बिठा दिया है। लाखों मनुष्य आकर हमारे सामने सिर झुकाते हैं। हे जगदाधार! इसे मैं अपनी स्तुति न समझ लूँ। इसे मैं अपने पुरुषार्थ के कृत्य समझकर अहङ्कारी न बन जाऊँ। मैं तो वही आपका सेवक हूँ। तब आपने मुझे घास खोदने की सेवा सौंपी थी उसे भी आपकी आज्ञा समझकर करता था, आज आपने मुझे इतने बड़े राज्य के प्रबंध का भार सौप दिया है, इसे भी मैं उसी प्रकार आपकी सेवा ही समझकर करूँ। इसमें और उसमे मुझे कुछ भी भेद प्रतीत न हो। कभी मेरा मन इन राजकीय वस्तुओं को अपना न मान बैठे। यह इतना धन आपका है। मैं तो इसका रक्षक मात्र हूँ। ये जितने नौकर चाकर हैं, सब आपके हैं। मैं इनसे काम लेने वाला आपका नियुक्त किया हुआ नौकर हूँ। हे जगदाधार! हे सर्वान्तर्यामिन्! हे अशरणशरण! हे कृपा के सागर! मेरे मन मे कभी भी किसी कर्म को करते हुए फल की इच्छा उत्पन्न न हो। सब कामों को एक मात्र आपकी प्रीति के ही निमित्त करूँ। मैं आपका किंकर हूँ, दास हूँ, सेवक हूँ। आपका सदा मुझे स्मरण बना रहे।"

इस प्रकार वह भाँति भाँति से भगवान् की दीन होकर स्तुति कर रहा था। नेत्रों से निरन्तर प्रेम के अश्रु झरझर झरझर गिर रहे थे। उसकी विनती का महाराज के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनकी आँखें भी बरसने लगीं।

कुछ देर के पश्चात् मन्त्री ने अपनी अंगरखी उतार दी।

राजकीय वस्त्र पहिने खुरपी अगरखी फटी धोती एक वस्त्र में बाँधकर पुटली बनायी। दूसरे लोगों को पता नहीं था। महाराज ने क्या देखा। महाराज उठकर सीधे द्वार पर आये। सब मन्त्री सेवक भी बडी उत्सुकता से महाराज के पीछे चले। किवाड खोलकर घसियारे मन्त्री ज्यों ही बाहिर निकले त्यों ही महाराज दौडकर उनके चरणों में पड गये और फूट-फूटकर रोने लगे। उन्होंने महाराज का बडे आदर के सहित उठाते हुए कहा—"महाराज! यह आप कैसा अन्याय कर रहे हैं। सेवकों के साथ ऐसा वर्ताव करना आपके अनुरूप नहीं है। हम तो आपके वेतन भोगी दास हैं। हमारे ऊपर तो कृपा करनी चाहिये।"

राजा ने रोते रोते कहा—"देव! मैंने बडा पाप किया, कि आपको इस तुच्छ काम में लगाया और उससे भी बडा पाप यह किया, कि इन दुष्टों के कहने से आपके ऊपर अविश्वास किया। आप तो मेरे गुरुदेव हैं। ऐसी निष्ठा मुझे भी प्राप्त हो सके ऐसा उपाय अब आप बतावें। यह मंत्रीपने का कार्य आपके अनुरूप नहीं है।"

घसियारे ने रसलता से कहा—"महाराज! मैं तो उनका सेवक हूँ, मुझे वे जिस कार्य मे भी नियुक्त कर देंगे, उसी को उनकी सेवा समझकर करूँगा। आप जो चाहें मुझसे करा लें।"

यह कहकर उन्होने मन्त्रीपने का कार्य छोड दिया और निरन्तर भगवचिन्तन मे ही मग्न रहने लगे।

सूतजी कहते है—"मुनियो! इसी का नाम है निष्काम कर्म जो करे पभुप्रीत्यर्थ भगवद् अर्पण बुद्धि मे कर्तव्य समझकर करे। उनके फलों में आसक्ति न रखे। ध्रुवजी को इसलिये दुःख हुआ, कि मैंने सकाम भाव से राज्य तथा श्रेष्ठ पद प्रतिष्ठा की इच्छा रखकर भगवान् की आराधना की। मुक्ति के दाता

प्रभु को प्रसन्न करके भी उनसे भोगों की ही याचना की। मेरा भाग्य उलटा हो गया था, असहिष्णु देवताओं ने मेरी बुद्धि विपरीत बना दी। मुझे ठग लिया। मैं अपनी विमाता तथा विमाता के पुत्र से द्वेष करके पिता के सिंहासन पर बैठना चाहता था। कैसी मेरी कुबुद्धि हो गयी, मैं ठगा गया, चक्रवर्ती को कठिनता से प्रसन्न करके भी उससे दो मुट्ठी चावल की भूसी की ही याचना की। गड्ढे से निकलकर फिर कुएँ में गिर पड़ा।"

इस प्रकार अनेक प्रकार की कल्पना करते राज्य तथा ध्रुव पद को भी तुच्छ समझते हुए वे अपने पिता की नगरी की ओर चल दिये।"

छप्पय

जा विधि राखें राम रहें ताही विधि सज्जन।
जो करवावें करें भले ही निन्दे दुर्जन॥
कृष्ण प्रीति ही काम कामना जगकी त्यागें।
प्रेम छाँड़िकें भक्त कृष्णतें कछु नहिँ माँगें॥
ध्रुवजी यह सब सोचकें, खिन्न मनहिँ मन अति भये।
तप करिकें अपवर्गपति, तें जग के सुख ई लये॥

ध्रुवजी का आगमन सुनकर माता-पिता को प्रसन्नता

[२३७]

आकर्ण्यात्मजमायान्तं सम्परेत्य यथाऽऽगतम् ।
राजा न श्रद्दधे भद्रमभद्रस्य कुतो मम ॥
श्रद्धाय वाक्यं देवर्षेर्हर्षवेगेन धर्षितः ।
वार्ताहर्तुरतिप्रीतो हारं प्रादान्महाधनम् ॥*

(श्रीमा० ४ स्क० ६ अ० ३७, ३८ श्लोक)

छप्पय

पिता नगर ध्रुव चले भाग्यकूँ दुर्जय मानत ।
इत नृप वार्ता सुनी सिद्ध ह्वै सुत पुर आवत ॥
सुनत प्रेम में विकल भये निज भाग्य सराह्यो ।
मानों मरि मम पुत्र मृत्यु के मुखतें आयो ॥
सुनत सुखद सम्वाद कूँ, अति प्रसन्न भूपति भये ।
अन्न, वस्त्र, धन, धान्य, मणि, मुक्ता विप्रनिकूँ दये ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ध्रुवजी के पिता ने जब सुना, कि मेरा पुत्र लौट आया है, तो उन्हें ऐसी प्रसन्नता हुई, मानों मरा हुआ पुत्र लौट आया हो। पहिले तो राजा ने विश्वास ही नहीं किया कि मुझ भाग्यहीन के सौभाग्य कहाँ, कि गये पुत्र का फिर से मुँह देख सकूँ, किन्तु फिर देवर्षि नारद के वचनों पर विश्वास करके उन्हें विश्वास हो गया और अत्यन्त हर्ष के वेग मे विह्वल होकर समाचार देने वाले को अति प्रसन्न होकर शुभ सम्वाद सुनाने के पारितोषिक रूप मे एक अत्यन्त मूल्यवान् हार दिया।"

सुनते हैं, समुद्र मन्थन करने पर जो अमृत निकला था, वह तो स्वर्ग में रखा है। देवता उसकी बड़े यत्न से रक्षा करते हैं। एक बार गरुड़जी अपने पराक्रम से उसे देवताओं से छीनकर पृथ्वी पर लाये थे, किन्तु स्वार्थी इन्द्र तथा देवताओं ने गरुड़जी को इधर-उधर की पट्टी पढ़ाकर सर्पों को छलकर उस घड़े को फिर स्वर्ग को ही उठा ले गये। इसीलिये पृथ्वी पर अमृत के दर्शन दुर्लभ हैं। वह तो स्वर्ग का अमृत है, फिर भी इस पृथ्वी पर भी कुछ वस्तुओं में अमृत है। माघ, पौष के कड़ाके के जाड़े में अग्नि अमृत ही है। वैशाख, ज्येष्ठ की गरमी में बहुत ठंडा सुगंधित कोरे घड़े का जल अमृत ही है। सुनते हैं कामिनियों के अधरों में भी अमृत भरा रहता है इसे कामी ही जानें। बाल शिशु की भोली मुस्कान में से भी अमृत चूता-सा दिखायी देता है। घी और दुग्ध का भोजन भी अमृत है। हम समझते हैं गौ का गाढ़ा दूध हो अधौटा करके सेर भर में छटाक भर चाँवल चीनी डाल-कर खूब घोटकर मेवा, मिश्री, केसर, इलायची, तनिक नाम को कपूर मिलाकर उसका जो कोई पदार्थ बनता है वह यदि खूब-भूख में भगवान् का भोग लगाकर ठंडा करके पाया जाय, तो इसके सम्मुख हम तो स्वर्ग वाले अमृत को भी तुच्छ समझते हैं। तभी तो नीतिकारों ने कहा है "अमृतं क्षीरभोजनम्" क्षीर का भोजन अमृत ही है।

ऊपर जितने अमृत बताये गये हैं, उन सबसे बढ़कर अमृत है अपने प्यारे के आगमन का सुखद समाचार श्रवण। जिसने हमारे हृदय मे घर कर लिया है। जो खाते पीते उठते-बैठते हमारी आँखों के सामने हँसता हुआ नाचता रहता है, जो किसी समय भी हमारा पिंड नहीं छोड़ता। स्वप्न में भी जो दीखता है, घुल-घुलकर बातें करता है। आँखें खुलते ही भाग जाता है, फिर उसकी रह जाती है मीठी-मीठी स्मृति। प्यारे की स्मृति मे कितना

सुख है, कितनी तन्मयता है, उसके सम्मुख स्वर्गीय सुख तुच्छ है। यदि मुझे कोई अपने प्यारे की निरन्तर स्मृति में ही मग्न रहने दे, तो मैं राज्य नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता, इन्द्र पद नहीं चाहता। ब्रह्मलोक, शिवलोक भी नहीं माँगता। मुक्ति की भी मुझे इच्छा नहीं। मुझे मेरे प्यारे की चिन्ता करने दो, मुझे उसकी प्यारी प्यारी सूरत को बार-बार याद करने दो, उसी अपने प्यारे के सम्बन्ध में यदि हमारे कान में शब्द सुनायी दें, कि वह आ रहा है, वह हमारी आँखों में आँख गडाकर हमारे शरीर से शरीर मिलाकर प्रेमालिङ्गन प्रदान करेगा, तो इस सम्वाद के ऊपर स्वर्गीय अमृत, इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक सभी को वार देने को हम तैयार हैं। मेरे कान अपने प्यारे के आगमन के अतिरिक्त कोई शब्द न सुनें यही भू मडल का सर्वश्रेष्ठ अमृत है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! भगवान से वरदान पाकर अपनी सकामता की निंदा करते हुए भाग्य को कोसते हुए ध्रुवजी महाराज उत्तानपाद की राजधनी ब्रह्मावर्त (बिठूर) के लिये चल दिये। आज चराचर जीव उनके स्वागत सत्कार के लिये तत्पर हैं। वायु अनुकूल मन्द सुगन्धित और शीतल वह रही थी। पृथ्वी कोमल और सुखस्पर्श बन गयी थी। आकाश में बादल छाये हुए थे, जिससे सुकुमार ध्रुव को धूप न लगे। वे भगवान् का स्मरण करते हुए मन ही मन अपने गुरुमन्त्र का जाप करते हुए मन्द मन्द गति से नगर की ओर आ रहे थे।

इधर महाराज उत्तानपाद अब सब कुछ भूल गये थे। उन्होंने राज-काज मन्त्रियों को सौंप दिया था। वे उठते-बैठते जागते सोते सदा सर्वदा अपने सुत ध्रुव का ही चिन्तन करते रहते थे। वे बार सोचते थे, मैं अपने प्यारे पुत्र का मुख इस जीवन में फिर कभी देख सकूँगा क्या ?"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! माधुर्य में ऐश्वर्य रहता

नहीं। वात्सल्य स्नेह में सदा शका की ही सम्भावना बनी रहती है। महाराज सोचते—"मेरा लाल अभी बालक है। ५ वर्ष की ही उसकी अवस्था है। वन मे कहाँ रहता होगा, क्या खाता होगा, कौन उसकी रक्षा करता होगा।" फिर सोचते—"अरे, भगवान् स्वयं उसकी रक्षा करेंगे। भगवान् तो सबकी रक्षा करते ही हैं। फिर भी मेरा मन मानता नहीं। उसी की चिन्ता मे फँसा रहता है। कब मैं अपने प्यारे पुत्र के भोले भाले मुख को चूमूँगा। कब उसके सिर को स्नेह से सूघूँगा। कब उसे अपनी जलती हुई छाती से चिपकाकर शीतल बनाऊँगा। कब मैं अपनी गोदी में बिठाकर उसके उलझे हुए बालों को सुलझाऊँगा। कब उसके मुखारविन्द पर श्रम के कारण निकले हुए छोटे-छोटे स्वेदबिन्दुओं को अपने उत्तरीय वस्त्र से पोछूँगा।"

इस प्रकार महाराज चिन्ता कर ही रहे थे, कि एक पुरुष ने दौड़कर हाँपते हुए आकर रुकरुक कर कहा—"महाराज की जय जयकार हो! महाराज, कुमार ध्रुवजी बन से लौटकर नगर के उपवन के समीप तक आ गये हैं।" इतना सुनते ही मारे हर्ष के महाराज के रोम-रोम खिल उठे। प्रेम के कारण वे अधीर से हो गये। अपने हर्ष के वेग को ये सम्हालने में समर्थ नहीं हुए। फिर सोचा—"कहीं यह पुरुष मुझे प्रसन्न करने को झूठे ही तो यह बात नहीं कह रहा है। भला मेरा भाग्य कहाँ, कि मेरा निर्वासित प्यारा पुत्र फिर मुझ पापी के सम्मुख आवे, अतः बड़ी उत्सुकता के साथ उससे पूछने लगे—"भैया, सच-सच बताओ मेरी वचना मत करना। क्या यथार्थ में ध्रुव आ रहा है? तुमने किसी के मुख से यह बात सुना है, या उसे आते हुए स्वयं अपनी आँखों से देखा है? यदि स्वयं देखा है तो बताओ उसका मुख कैसा है? वह दुबला तो नहीं हो गया है, वह कुशल-पूर्वक तो है।"

दिया। वे इस सुखद समाचार को सुनकर सागर के समान गभीर बन गयीं।

महाराज ने वहीं बैठे बैठे बूढ़े मन्त्री से कहा—"शीघ्र से शीघ्र मेरा सुवर्ण रथ तैयार कराओ। मैं अपने पुत्र का मुख देखने के लिये नगर से बाहर जाऊँगा। स्वय सत्कार-पूर्वक उसे लाऊँगा। ब्राह्मणों से कहो वे वेदघोष करते हुए आगे आगे चलें। सेनानायक से कहो चतुरगिणी सेना सजाकर मेरे सुत के स्वागत समारोह में सम्मिलित हों।" बूढ़े मन्त्री ने अत्यन्त हर्ष के साथ कहा—"जैसी आज्ञा, मैं अभी जाता हूँ और सभी व्यवस्था करता हूँ।" इतना कहकर मन्त्री स्वय ही उठकर चले।

सुरुचि देवी ने शीघ्रता से कहा—"दासी, महामात्य से कहो—हमारे लिये भी पालकी शीघ्र तैयार कराके भेजें।" दासी ने दौड़कर कहा—"महामात्य जी! मेरी स्वामिनी की आज्ञा है, कि उनकी पालकी अति शीघ्र आनी चाहिये।"

यह सुनकर खीजकर बूढ़े मन्त्री ने कहा—"हाँ, मुझे सब पता है, मैं बालक नहीं हूँ, इस राज दरबार में ही मेरे ये बाल सफेद हुए हैं। आयी है मुझे याद दिलाने।"

दासी ने तुनककर कहा—"मेरे ऊपर क्यों बिगड़ते हैं आप? मुझे तो जो आज्ञा हुई आपसे निवेदन कर दिया।"

मन्त्री जाते जाते कहते गये—"भाग जा, आयी बड़ी निवेदन करने वाली। जा कह देना पालकी आ रही है, तब तक वे अपना साज शृङ्गार तो करें।" इतना कहते कहते बूढ़े मन्त्री अन्तःपुर से बाहर हुए।

बात की बात में सभी तैयारियाँ हो गयीं। मानों सब पहिले से ही तैयार बैठे थे। कई शिबिकाएँ आ गयीं। सुरुचि देवी ने कहा—"जीजी! चलो, पहिले तुम पालकी में बैठो।" यह सुनकर सुनीति देवी उत्तम को गोद में लिये पालकी में जा बैठीं उसी

पालकी में दासी की भाँति सुरुचि देवी भी बैठ गयीं। कहाँ तो जब मन फटा हुआ था तो एक महल में भी नहीं रह सकती थीं। कहाँ मन मिलने पर एक छोटी-सी पालकी में तीनों बैठ गयीं। हृदय में स्थान होने पर इमली के पत्ते पर दो रह सकते हैं। मन फट जाने पर इतनी बड़ी शैया पर भी नहीं समाते। संसार प्रेम में स्थित है। प्रेम के बिना जगत् शून्य है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! अपने पुत्र को लेने के लिये महाराज उत्तानपाद अपनी सेना, सेवक प्रजा तथा रानियों के सहित बड़े ठाट-बाट और समारोह के साथ नगर के बाहरी उपवन की ओर जाने लगे।"

छप्पय

नृपति आयसु दई साज स्वागतके साजें।
शंख दुन्दुभी पणव माङ्गलिक बाजे बाजें॥
वस्त्राभूषण पहिन कुमारी कन्या आयें।
दधि अक्षत लै फूल-खील भुवपै बरसायें॥
आगे आगे विप्रगन, करत वेदध्वनि चलि दये।
मन्त्री रानी सबनि लै, सुत स्वागत हित नृप गये॥

ध्रुवजी का माता-पिता के साथ प्रेम सम्मिलन

[२३८]

तं दृष्ट्वोपवनाभ्याश आयान्तं तरसा रथात् ।
अवरुह्य नृपस्तूर्णमासाद्य प्रेमविह्वलः ॥
परिरेभेऽङ्गजं दोर्भ्यां दीर्घोत्कण्ठमनाः श्वसन् ।
विष्वक्सेनाङ्घ्रिसंस्पर्शहताशेषाघबन्धनम् ॥*

(श्री भा० ४ स्क० ६ अ० ४२, ४३ श्लो०)

छप्पय

देख्यो उपवन निकट फूल सम सुतकूँ आवत ।
गावत गुन गोविन्द अमी रस–सो बरसावत ॥
उतरे रथतें झपटि तनयकूँ हिये लगायो ।
बार बार मुख चूमि गोद में लाल बिठायो ॥
पर्‌यो पैरपै पुत्र जब, पुलकित सब अँग ह्वै गये ।
जनु प्रेमासव पान करि, भूप भाव भावित भये ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! राजा ने जब उपवन के समीप ही आते हुए अपने पुत्र को देखा, तो वे अत्यन्त ही शीघ्रता के साथ रथ से उतर पड़े तथा निःश्वास छोड़ते हुए, दोनों हाथों की कौली भरकर अपने पुत्र का प्रेम में विह्वल होकर आलिङ्गन किया। जिनके लिये महाराज चिरकाल से अत्यधिक उत्कण्ठित थे, वे ध्रुवजी कैसे हैं ? जिनके समस्त पाप श्रीहरि के चरणस्पर्श से नष्ट हो गये हैं।"

इस कोलाहलपूर्ण दुखद जगत् मे सुख कहाँ ? सर्वत्र चिन्ता उद्विग्नता, आत्मग्लानि और आधि-व्याधियों की प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो रही है। इस भीषण विभीषिकापूर्ण भवाङ्गण में यदि कुछ सुख है, तो सहधर्मिणी के सान्त्वनापूर्ण सुन्दर सुललित शब्द हैं, जिसे वे प्राप्त नहीं वह तो जीवित ही मृतक समान है, उससे भी बढकर यदि कोई संसार में सुखद पदार्थ है, तो वह है सुत के शरीर का सस्पर्श। सुत अपनी आत्मा ही है। स्वतनु की प्रतिकृति होने के कारण ही उसे तनय कहते हैं। आत्मा से उत्पन्न होने के कारण ही वह आत्मज कहाता है। संसार में बहुत-से मीठे पदार्थ हैं, किन्तु पुत्र के मुख चुम्बन में जो मिठास है, वह स्वर्ग के भी किसी पदार्थ में न होगी। पुत्र के अंगस्पर्श में जितना सुख है वह ब्रह्मलोक के सभी स्पर्शनीय पदार्थों में न होगा। पुत्र सुख की खानि है, जीवन का सहारा है। जिसे अपने अनुकूल पुत्र का स्पर्श प्राप्त है, उसे संसार में प्राप्त करने योग्य पदार्थ और कौन शेष रहा ? जो उससे वञ्चित है, उसके पास संसार मे है ही क्या ? उसको तो लँगोटी लगाकर वन में चला जाना ही श्रेयस्कर है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! चिरकाल से महाराज उत्तानपाद जिसकी अहर्निशि चिन्ता करते रहते थे, उस अपने सुत का आगमन सुनकर वे उसे आगे से लेने अपने सभी बन्धु बान्धवों और प्रजा के लोगों को साथ लिये हुए रथ पर चढकर चले आगे-आगे विप्रगण वेदध्वनि करते जाते थे। उनके पीछे भाँति भाँति के मांगलिक वाद्य बज रहे थे। भण्डी पताका लिये हुए सहस्रों सेवक इधर-उधर चल रहे थे। अपने-अपने घोडों को नचाते और उनकी गति की कलाओं को दिखाते हुए असंख्यों सैनिक महाराज को चारों ओर से घेरे हुए थे। महाराज के सिर पर श्वेतछत्र तन रहा था, दोनों ओर सेवक चँवर डुला रहे थे,

चन्दीगण विरुदावली गा रहे थे। उस समय महाराज ऐसे लगते थे मानों अपने दिव्य रथ पर विराजमान देवता और अप्सराओं से घिरे हुए इन्द्र अपने पुत्र जयन्त से मिलने जा रहे हों। प्रजा के सभी लोगों में अपूर्व उत्साह था। सभी ध्रुव के दर्शनों को उत्कण्ठित हो रहे थे। महाराज ने दूर से ही उपवन के समीप आते हुए अपने तनय को देखा, उसे देखते ही जैसे गौ अपने सद्यःजात शिशु के मिलने को रम्हाती हुई दौड पडती है, उसी प्रकार महाराज शीघ्रता से रथ से कूदकर पैदल ही अपने पुत्र की ओर दौड़े और अत्यन्त ही वेग से जाकर उसे उठाकर अपनी छाती से चिपटा लिया। जिस अग का स्पर्श अच्युत के अग से हुआ है, उस अपने आत्मज के अग को हृदय से लगाकर महाराज तृप्त नहीं होते थे। बड़ी देर तक उसे अपने हृदय से चिपकाये रहे। दोनों नेत्रों से श्रावण भादों की वर्षा के समान अश्रु झर झर झर रहे थे, वे ध्रुव के काले काले घुँघराले बालों को भिगो रहे थे। वे अश्रुकण अत्यन्त ही शीतल थे, अतः ध्रुवजी उनके स्पर्श से रोमाञ्चित हो उठे। ठण्डे-ठण्डे आँसुओं से बाल भीग जाने से उन्हें फुरहुरी आने लगीं। वे भी अपने पिता के ऐसे अपूर्व स्नेह को पाकर आत्मविस्मृत से हो गये।

इस पर विदुरजी ने पूछा—"भगवन ! आँसू तो गरम होते हैं और स्वाद में खारी होते हैं ? आप महाराज के आँसुओं को शीतल क्यो बता रहे हैं ?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! आँसू उष्ण भी होते हैं, शीतल भी होते हैं। प्रायः ऐसा देखा गया है, कि क्रोध मे या दुःख में जो आँसू निकलते हैं, वे तो उष्ण हुआ करते हैं और जो प्रेम के आँसू होते हैं वे शीतल होते हैं। शोक मे क्रोध मे जो आँसू निकलते हैं, उनसे मुख मलिन हो जाता है, आकृति बिगड़ जाती है, किन्तु अत्यन्त स्नेह से भरे हुए हृदय से जो

प्रेमाश्रु निकलते हैं, उनसे मुख चमकने लगता है। उन्हें देखकर पत्थर का हृदय भी पसीज-सा जाता है। महाराज के आँसू प्रेम के निकल रहे थे, इससे वे सुखद थे, शीतल थे।"

यह सुनकर कुछ देर तक सोचकर विदुरजी बोले—"हाँ, महाराज! ठीक है, ऐसा ही होता है। अच्छा तो फिर क्या हुआ ?"

मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी! फिर क्या हुआ ? पिता पुत्र का मिलन ही ऐसा है, कि न तो इसे वाणी ही नहीं व्यक्त कर सकती है, फिर लोह की निर्जीव लेखनी तो व्यक्त करेगी ही कैसे ? चिरकाल से राजा जिस मनोरथ को कर रहे थे वह दुर्लभ मनोरथ आज महाराज का पूरा हुआ। प्रेम में ऐसे विह्वल हो गये, कि उन्होंने ध्रुवजी को प्रणाम करने का अवसर ही नहीं दिया। पहिले ही दौड़कर उन्हें हृदय से चिपटा लिया। फिर गोदी में बिठाकर बार-बार मुख चूमा, सिर सूँघा। अपने वस्त्र से उनके मुख को पोंछा। उनका प्रेम-वेग कुछ कम हुआ तो गोदी से धीरे से उठकर ध्रुवजी ने अपने पिता के पादपद्मों में साष्टांग प्रणाम किया। उनकी धूलि को अपने माथे पर लगाया। पिता ने अत्यंत स्नेह से उन्हें उठाकर छाती से लगाया और आयु, ऐश्वर्य, यश, उन्नति आदि की आशीषें दीं।

इस प्रकार पिताजी से मिलकर चिर उत्कंठित अपनी माताओं की पालकी के समीप ध्रुवजी गये। उत्तम को गोद में लिये हुए माता सुनीति पालकी में बैठी थीं, उनके पास ही उनसे सटी सुरुचि देवी लज्जा और प्रसन्नता के बीच में पड़ी हुई सिकुड़ी हुई पालकी के परदे से ध्रुवजी को देख रही थीं। ध्रुवजी ने आकर एक साथ ही दोनों माताओं के चरणों मे प्रणाम किया। ध्रुवजी की जननी सुनीति देवी तो प्रेम में ऐसी विह्वल हो गयी थीं, कि उन्हें तो अपने शरीर की सुधि ही नहीं थी। ध्रुवजी ने आकर

कब प्रणाम किया उन्हें कुछ पता नहीं, वे तो प्रेम की मूर्छा मे मूर्छित हुई मृतक के समान पालकी में पडी थीं। सुरुचि को सज्ञा थी उन्होंने ध्रुवजी को अपने चरणों में निष्कपट भाव से प्रणाम करते देखकर उन्हें स्नेह पूर्वक छाती से चिपका लिया और गोदी में बिठाकर सिर सूँघकर अनेकों आशीर्वाद दिये—"बेटा, तुम चिरकाल तक सुख भोगो, चिरञ्जीव हो।"

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"महाराज, ये वे ही सुरुचि देवी हैं, जिन्होंने ६ महीने पहिले अपने वाग्बाणों से ध्रुवजी को विद्ध किया था। आज इसे ऐसी सुबुद्धि किस कारण से आ गयी?"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"विदुरजी ! जिस पर रामजी की कृपा हो जाती है, उस पर सभी कृपा करने लगते हैं। जिसने अपने मैत्री, करुणा, मुदिता आदि गुणों द्वारा भगवान् वासुदेव को प्रसन्न कर लिया, उसके आगे सभी का मस्तक स्वत. नत हो जाता है। जिसके हृदय में अखिलात्मा अच्युत के प्रति आदर भाव हैं उसका सभी प्राणी आदर करने लगते हैं। जो सब प्राणियों के सम्मुख सद्भाव से नत होता है, उस नमनशील व्यक्ति को सभी नमन करते हैं और समस्त सद्गुण उसके समीप इसी प्रकार ढुलककर आ जाते हैं, जैसे नीची भूमि में ऊपर का जल बहकर आ जाता है। जिन ध्रुवजी के तप से भगवान् ही प्रसन्न हो गये, तो सुरुचि का प्रसन्न हो जाना स्वभाविक ही है।"

इस प्रकार जब सुरुचि प्यार कर चुकी, तो कुमार उत्तम ने उठकर ज्यों ही ध्रुवजी के चरण पकडने चाहे, त्यों ही ध्रुवजी ने उसे बीच से ही पकड़कर छाती से चिपका लिया। दोनों भाई परस्पर में प्रेम के कारण एक हो रहे थे। दोनों के नेत्रों से प्रेम के अश्रु बह रहे थे। दोनों के शरीर पुलकित हो रहे थे, दोनों के

हृदय भरे हुए थे। वे परस्पर में सट जाने के कारण नेत्रों के द्वार से बह रहे थे। उस प्रेम मिलन को देखकर सुरुचि का हृदय रुदन-सा कर रहा था, कि हाय! पहिले मैंने इन दोनों में कितना भेद-भाव स्थापित कर रखा था।"

यह सुनकर विदुरजी ने पूछा—"महाराज! आपने राजा का मिलन बताया, सुरुचि का प्यार जताया, उत्तम का स्नेह वर्णन किया, किन्तु जिनके एकमात्र आश्रय ध्रुव ही थे, उन माता सुनीति के सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहा।"

यह सुनकर मैत्रेय मुनि बोले—"क्हूँ कैसे विदुरजी! उसे तो अपने शरीर की ही सुधि नही थीं। उन्हें तो पता नहीं। कब मेरे पुत्र ने आकर मेरे पैरों से प्रणाम किया। वे तो अब तक वेसुध ही बनी हुई थीं, अब जब सुरुचि ने उन्हें उठाकर बैठाया, बार-बार झकझोरा और उनके कान में कई बार कहा—"जीजी! ध्रुव आ गया है, तुम्हारे पैरों में प्रणाम कर रहा है।" तब कहीं माता को चेत हुआ। उन्होंने पैरों में पड़े अपने पुत्र को अत्यन्त ही स्नेह के साथ ललककर गोदी में बिठा लिया और हृदय से चिपका लिया। माता के जिस स्तनों का दूध पान करके ध्रुवजी इतने बड़े हुए थे, आज जब भगवान् के चरण स्पर्श से जिसका समस्त अंग पावन हो गया है, उनकी चरणरेणु को अंग में लगाने से जिनके जन्मजन्मातर के कल्मप कट गये हैं, उसी पवित्र देह का जब माता के स्तनों से पुनः स्पर्श हुआ, तो उन भाग्यशाली स्तनों का हृदय भर आया। वे भी फूट पड़े और उनमें से दुग्ध की दो धारें बहकर ध्रुवजी के शरीर का मानों अभिषेक कर रही हों। दुग्ध की दो धारायें तो ध्रुवजी के हृदय को सिंचन कर रही थीं और माता के दोनों नेत्रों से निकलती हुई दो अश्रु धारायें उनके शिर का अभिसिंचन कर रही थीं। उस समय उनकी ऐसी शोभा हो रही मानों केदारनाथ के

शिवलिंग पर ऊपर से गली हुई बरफ टपक रही हो और एक ओर भक्त-गण उन्हें दुग्धस्नान करा रहे हों। इस अलौकिक दृश्य को देखकर उत्तम से नहीं रहा गया। उसने जवनिका हटा दी। उमडती हुई प्रजा के समूह ने वह विमाता पुत्र का अलौकिक सम्मिलन देखा। देखकर सबके नेत्रों से अश्रु बहने लगे। सभी मिलकर माता पुत्र के ऊपर पुष्पों की वृष्टि करने लगे और बार बार कहने लगे—"माँ तुम धन्य हो! जननी! ध्रुव को उत्पन्न करके तुमने मातृ पद को सार्थक बना दिया। चिरकाल से आपका यह लाल खो गया था, यह अमूल्य हीरा हिरा गया था, आज वह सौभाग्यवश फिर आपके पास आ गया। खोया हुआ लाल पा गया, बिछुडा हुआ बछडा फिर माँ से मिल गया। यह तुम्हारा बेटा चिरकाल तक हम सबका पालन करे। यह चक्रवर्ती होकर राज सिंहासन पर बैठे। यह तुम्हारे समस्त दुःखों को दूर करने वाला हो, हम सबका त्राता और रक्षक हो। देवताओं से भी बढ़कर इसकी आयु हो।"

इस प्रकार समस्त प्रजा के आशीर्वाद को सुनकर माता को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। महाराज भी समीप आ गये। आज अपनी भार्या की गोद में ध्रुव को देखकर उनके हर्ष का पारावार नहीं रहा।

उन्होंने रानियों से कहा—"अब विलम्ब करने का समय नहीं। सूर्य अस्त ही होना चाहते हैं, चलो चलें।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! महाराज की आज्ञा पात ही सब लोग बड़े उत्साह और धूम धाम के साथ नगर में प्रवेश करने का उपक्रम करने लगे।"

छप्पय

भेंटि पिता तें तुरत मातु ढिँग ध्रुवजी आये।
दोऊ मातानि बैर कपट छल तजि लिपटाये॥
भईं सुनीती विकल सुरुचि सुठि आशिष दीन्हीं।
भेटे उत्तम ललकि मातु सुश्रूषा कीन्हीं॥
मातु प्रेम मूर्छा तजी, सुत कूँ हिये लगाइकें।
सिर सूँघ्यो चूम्यो वदन, कीन्ह्यो प्रेम अघाइकें॥

ध्रुवजी का पिता के भवन में प्रवेश

[२३९]

ध्रुवाय पथि दृष्टाय तत्र तत्र पुरस्त्रियः ।
सिद्धार्थाक्षतदध्यम्बुदूर्वापुष्पफलानि च ॥
उपजह्रुः प्रयुञ्जाना वात्सल्यादाशिषः सतीः ।
शृण्वंस्तद्वल्गुगीतानि प्राविशद्भवनं पितुः ॥*

(श्रीमा० ४ स्क० ९ अ० ५८, ५९ श्लोक)

छप्पय

हथिनी पै इक संग चढ़े ध्रुव उत्तम भाई ।
धूम धाम तें चले विविध विधि पुरी सजाई ॥
गली, द्वार, गृह, चौक, राजपथ करे कराये ।
केरा वन्दनवार बाँधि बहु भाँति सजाये ॥
दधि, अक्षत, फल, फूल, जल, पीरी सरसों, खील सब ।
छिरकें कन्या, कुलवधू, ध्रुवजी जित जित जाहिँ जब ॥

जिनके प्रति अपनापन होता है, यदि वे कोई अपूर्व लोकोत्तर

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! ध्रुवजी को मार्ग में जाते देखकर जहाँ तहाँ पुरवासिनी स्त्रियों ने उनके ऊपर पीली सरसों, अक्षत, दधि (नारियल का) जल, दूर्वा, पुष्प और फलों की वर्षा की तथा (बड़ी बूढ़ी स्त्रियों ने) उन्हें वात्सल्य भाव से अनेक प्रकार के शुभ आशीर्वाद दिये। स्त्रियों के मुख से मनोहर गीतों को सुनते हुए ध्रुवजी ने पिता के भवन में प्रवेश किया।"

कार्य करके आते हैं, या चिरकाल में हमारे बीच में आने वाले होते हैं, तो हमारा हृदय मुक्त कपाट हो जाता है। उस समय उसके स्वागत सत्कार में हम सब कुछ करने को उत्सुक हो जाते हैं। अपने हृदय की श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने को हम हृदय से ता उससे मिलते ही हैं, बाह्य सजावट करने को भी विवश हो जाते हैं। तभी तो लोकप्रिय पुरुषों के स्वागत सत्कार में बिना प्रेरित किये ही सभी पुरुष स्वतः भाँति भाँति की तैयारियाँ करते हैं, घरों को सजाते हैं और उनके प्रति अपना स्नेह जताते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब ध्रुवजी अपने माता पिता, मन्त्री, पुरोहित, परिजन, पुरजन तथा समस्त प्रजा के लोगों से मिल भेंट लिये तब बूढ़े मन्त्री ने कहा—"कुमार को रथ मे बिठाकर धूमधाम और बडे स्वागत सत्कार के साथ नगर मे ले चलो।"

इस पर प्रजा के लोगो की ओर से कहा गया—"कुमार को रथ पर नहीं हाथी पर बिठाकर नगर प्रवेश कराया जाय। जिससे सभी स्त्री, पुरुष, बाल, बच्चे कुमार के दर्शन कर सकें। कोई इनके देव-दुर्लभ दर्शनों से वंचित न रहने पावे।"

यह सुनकर महाराज का वात्सल्य स्नेह उमर आया और बोले—"ना भैया, बडे हाथी पर न चढाना, क्या पता वह बिगड़ उठे। मेरा बचा अभी सुकुमार है, यदि सबकी ऐसी ही सम्मति है, तो उस सीधी हथिनी पर मेरे लाल को चढाया जाय, जो किसी से कुछ बोलती ही नहीं। जिसके पैरों के नीचे बालक भी खेलते रहते हैं।"

महाराज की आज्ञा का पालन किया गया। उस सीधी सादी हथिनी पर सुवर्ण के काम की झूल डाली गयी, सुवर्ण का सिंहासन उसके ऊपर कसा गया, उस पर ध्रुवजी अपने भाई

उत्तम के सहित बैठे। इधर उधर परिचारक खडे हुए। अब ध्रुव जी की सवारी नगर की ओर चली।

नगर निवासियो ने ज्यों ही ध्रुवजी का आगमन सुना था, त्यों ही वे उनके स्वागत का प्रबन्ध करने लग गये थे। नगर के गोपुर (प्रधान द्वार) को भॉति भॉति की झण्डी पताकाओं और सुवर्ण मालाओ से सजाया गया था। प्रधान पथ पर स्थान-स्थान पर बडे बडे फाटक लगाये गये थे। पथ के दोनो पार्श्वों में पत्तिबद्ध केलों के खम्भे गाड़े गये थे। उनमे कोमल कोमल आम के पल्लवों के बन्दनवार लटकाये गये थे, बीच बीच मे उनमे सुगन्धित पुष्पो की मालायें सुन्दर दिखायी देने वाले फल भी लटका दिये थे। जैसे आम के दो गुच्छों के बीच मे एक पाटल, कमल, मालती, माधवी, यूथिका आदि के पुष्पो की तिरछी माला लटका दी और बीच में लाल करौंदा, लाल सेव, टैंटी के पके फल (पैंचू) अगूर के गुच्छे, नाशपाती, सन्तरे आदि फल भी कुछ लटकते हुए शोभा के लिये बाँध दिये थे। केले के खम्भे सफल थे। उनमें बडी बडी गहरें लटक रही थीं, जो वायु के वेग से हिल हिलकर परस्पर में मिल मिलकर ध्रुवजी का स्वागत करने की व्यग्रता का प्रदर्शन कर रही थी। मकराकृति बँधे हुए वे बन्दनवार राज पथ को अत्यन्त सुशोभित बनाये हुए थे।

पुरवासियों ने अपने अपने घरों को भी बडे उत्साह से साथ सजाया था। बडी बडी ऊँची ऊँची हवेलियों की छतों से नीचे तक लाल, पीले, हरे, कन्नेरी आदि विविध प्रकार के रङ्गीन रेशमी, सुवर्ण के कामदार वस्त्र लटकाये गये थे। प्रत्येक द्वार पर दो दो फल युक्त केले बॉधकर सुशोभित किया था। उनमें आम के पत्तों के बन्दनवार बॉधे थे, पुष्पमाला तथा मोतियों की मालरें लटकायी थीं। जल के भरे घडे रखे थे, जिनमें कलावा आम्र पल्लव लगे थे। स्वस्तिक के चिह्न जिन पर बनाये गये थे। उनके

ऊपर चौमुखा घृत दीपक जलाया गया था। बड़े-बड़े सतखानों वाले विमान, चैत्य सुवर्णमण्डित शिखरों की कान्ति वाले परकोटे, राजद्वार और महल सभी बड़ी विचित्रा के साथ सजाये गये थे। बड़ी-बड़ी सड़कें, छोटी-छोटी गलियाँ, चौराहे सभी झाड़ बुहार-कर अत्यन्त स्वच्छ बना दिये थे। उन पर सुगन्धित जल का छिड़काव किया था। स्थान-स्थान पर गन्धयुक्त पुष्प बखेर दिये थे। चन्दन का चूरा अगरु, कपूर और घृत मिलाकर स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े पात्रों में जलाये गये थे। जिनके धूम से आकाश धूमिल घन रहा था। बड़े-बड़े पात्रों में ये सुगन्धित द्रव्य रख दिये थे, कि धूआँ समाप्त होते ही कोई भी उसमें फिर से डाल दे, जिससे सुगन्धि कम न होने पावे। अटा अटारियों, छज्जे निवारियो पर लड़कियाँ कुलकामिनियाँ चढ़ी हुई थीं। उनके समीप ही ध्रुवजी के स्वागत के लिये धान के भुने लावा अक्षत, पुष्प, फल, बतासे आदि रखे थे। जिधर से भी ध्रुवजी की सवारी निकलती उधर ही जय घोषों से दिशाएँ गूंजने लगतीं। स्त्रियाँ अपने कङ्कणों और चूड़ियों की झनकार के सहित उनके सिर पर पीली सरसों, अक्षत, दही, नारियल का जल, दूर्वा, पुष्प, तथा कोमल-कोमल छोटे-छोटे फलों की वर्षा करने लगतीं। ध्रुवजी का सर्वत्र जयघोष हो रहा था; मानों ये सब मगल बोल रहे हों। बूढ़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ अनेक प्रकार से आशीर्वाद दे रही थीं, "हजारों, लाखों वर्ष की मेरे लाल की आयु हो, सदा सुखी रहे, धन-धान्य से भरा पूरा रहे। इसी प्रकार सदा हम सबको सुखी बनाता रहे। धर्म-पूर्वक प्रजा का प्रेम से पालन पोषण करे बहुत-से पुत्र पौत्र हों।" बूढ़ी-बूढी ये स्त्रियाँ तो ऐसे आशीर्वाद दे रही थीं, जो कुमारी तथा युवती थीं वे मङ्गलगीत गा रही थीं, जिनमें ध्रुवजी के यश का वर्णन था, सुनीति के सौभाग्य की सराहना थी। इस प्रकार सभी के आशीर्वाद और

मङ्गल गीतों को सुनते हुए, सभी के द्वारा सत्कृत होते हुए ध्रुवजी ने अपने पिता के भवन में उसी प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार सिंह का बच्चा अपने पिता की गुफा में प्रवेश करता है। महाराज उत्तानपाद का वह मणिमय भवन, भाँति-भाँति की बहुमूल्य वस्तुओं से बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ सुचतुर शिल्पियों और चित्रकारों द्वारा सजाया गया था। उसमें स्थान स्थान पर मोतियों की झालरें मणियों की लड़ियाँ लटक रही थीं। माता पिता ने भवन में पहुँचकर पुत्र को फिर से प्यार दुलार किया। दास-दासियों ने आकर ध्रुवजी को चारों ओर से घेर लिया। माता ने अपने पुत्र की मङ्गल कामना के लिये ध्रुवजी के ऊपर न्योछावर कर-करके दास दासियों को धन, वस्त्र, आभूषण दिये। बूढी दासी अड़ गयी, कि मैं तो आज नौलखा हार लूँगी। तब माँ ने समझाया, तुम्हारा ही बच्चा है बड़ा हो जायगा तो इसके विवाह में नौलखा हार ही दूँगी। तुम घबड़ाती क्यों हो। यह बात दासी ने मान ली और आशीर्वाद देने लगी—"बेटा, जल्दी बड़ा हो जाय, घर में छम्म-छम्म करती हुई बहू आ जाय।"

इस प्रकार दास दासियों से सेवित और सत्कृत तथा माता-पिता से लालित-पालित होकर ध्रुवजी राजमहल में चैन की वंशी बजाने लगे। महाराज उत्तानपाद के महल में कुछ कमी तो थी ही नहीं। ध्रुवजी के रहने के भवन सदा सुनहरी काम के परदों से सजे रहते थे, उनके नीचे गुलगुले, मुलायम मखमली गलीचे बिछे रहते थे, उनके सेवक परिचारक वस्त्राभूपणों से सर्वदा सजे रहते थे। उनके भाँति-भाँति के सुवर्ण के पात्र स्वच्छ मँजे हुए रहते थे। उनकी शैयाएँ बहुमूल्य थीं। हाथी दाँत के जिनके पाये थे। रेशमी निवारों से बुने हुए थे। अत्यन्त गुलगुले गद्दे उन पर बिछे हुये थे, इतने मुलायम तकिये उन पर रखे हुये थे कि दबाते ही वे पिचक जाते। इन पर दूध के फैन के समान

स्वच्छ सफेद वस्त्र बिछे हुये थे, इधर-उधर सुखद चौकियों पर सुवर्ण मढित आसन बिछे रहते थे। भवनों की भीतियों में मरकत मणि जड़ी हुई थीं। जिनसे बिना दीपक के ही वे जगमग जगमग करके जगमगाते रहते थे, उनमें कभी अन्धकार नहीं होता था। श्रोणीभार से जिनका कटिप्रदेश कुछ नम-सा गया है, ऐसी असख्यों सुन्दरी दासियाँ इधर से उधर छमछम करती हुई घूमती रहती थीं। भवनों के सम्मुख छोटे छोटे आनन्द विनोद करने के उद्यान थे, जिनमें पारिजात कल्पवृक्ष गन्धराज आदि के सुन्दर सुगन्धित पुष्पों वाले पादप लगे हुए थे। जिनमें पालतू पक्षी कलरव करते हुए इधर से उधर फुदक रहे थे। मधुलोलुप मत्त भ्रमर अपनी भ्रमरियों के सहित पुष्प पराग में सने हुए पुष्पों का मधुपान कर रहे थे। गन्धर्वगण अपने सुमधुर कण्ठ से जिनमें बैठे गान कर रहे थे, ऐसे उद्यानों से उनका भवन सदा सुवासित बना रहता था। जिनके मध्यप्रान्त में विचित्र विचित्र बावड़ियाँ थीं, जिनकी वैदूर्य मणि की सुन्दर स्वच्छ सीढ़ियाँ थीं। उनमें लाल, नीले तथा श्वेत वर्ण के सहस्र-दलवाले कमल खिले हुए थे। जिनमें जलकुक्कुट, कारण्डव, हंस, चक्रवाक आदि जलजन्तु जलक्रीड़ा कर-करके अपनी कामिनियों के सङ्ग कमनीय केलि करते हुए कल्लोल कर रहे थे।

इतना सब होने पर भी ध्रुवजी का चित्त सदा श्रीहरि के चरणों में ही लगा रहता था। माता उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करतीं। पिता उनके ऊपर सर्वस्व वारते थे। सुरुचि भी उन्हें उत्तम के सदृश ही समझती। प्रजा के लोग ध्रुवजी के शील सदाचार और स्वभाव से इतने सन्तुष्ट थे, कि वे एक एक दिन गिन रहे थे, कि ये कब हमारे महाराज हों। कब हम इन्हें श्वेत छत्र के नीचे राजसिंहासन पर बैठे हुए दोनों ओर चँवर डुलते हुए देखें। सब राजमन्त्री ध्रुवजी का राजा के समान ही सत्कार

करते। दास-दासी सदा उनकी आज्ञा का अव्यग्र भाव से पालन करते। इस प्रकार समस्त राज सुखों का अनासक्त भाव से उपभोग करते हुए ध्रुवजी अपने पिता के भवन में सुखपूर्वक रहने लगे।

मैत्रेय मुनि कहते हैं – "विदुरजी! जिनके ऊपर भगवान् की कृपा हो गयी हो, उनके लिये संसार में दुर्लभ पदार्थ कौन-सा है? यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में ध्रुव चरित्र कहा। अब आप मुझसे जो और पूछना चाहें पूछें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर भगवान् मैत्रेय चुप हो गये।"

छप्पय

सबतें सत्कृत भये गये महलनि के भीतर।
लालित पालित भये जनक जननी तें ध्रुववर॥
सब सुख के समान सजे शाला में सुखकर।
दुग्धफेन सम श्वेत सुखद शैया शुभ मनहर॥
असन सरस अतिवर-वसन, शोभायुत मणिमय भवन।
विमल वाटिका कमलयुत, सर लखि होवै मुदित मन॥

—:—

ध्रुवजी का राज्याभिषेक और गार्हस्थ्य-जीवन

[२४०]

वीक्ष्योढवयसं तं च प्रकृतीनां च संमतम् ।
अनुरक्तप्रजं राजा ध्रुवं चक्रे भुवः पतिम् ॥
प्रजापतेर्दुहितरं शिशुमारस्य वै ध्रुवः ।
उपयेमे भ्रमिं नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ ॥ *

(श्री भा० ४ स्क० ९, १० अ० ६६, १ श्लो०)

छप्पय

पाइ पिता को प्यार बिताई बाल अवस्था ।
तरुन भये पितु संग करें सब राज व्यवस्था ॥
सबकी सम्मति समुझि भूप सिंहासन दीन्हों ।
मन्त्री परजन प्रजा सबनि अभिनन्दन कीन्हों ॥
राज्य भार ध्रुवकूँ दयो, नृप तप हित वनकूँ गये ।
सुनत भूप ध्रुव अभिषेक पै, होवें मङ्गल नित नये ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते है—'विदुरजी ! जब महाराज उत्तानपाद ने देखा कि ध्रुवजी तरुणावस्था को प्राप्त हो गये हैं और प्रजा भी उन पर अनुराग रखती है, तो अपने मन्त्रियों की सम्मति से, उनको समस्त भूमण्डल के राज्य पर अभिषिक्त कर दिया । ध्रुवजी ने प्रजापति शिशुमार की भ्रमि नामक पुत्री से विवाह किया, जिसके गर्भ से उनके कल्प और वत्सर नाम के दो पुत्र हुए ।"

जिनके सुमधुर सुन्दर चरित्र सुनते-सुनते चित्त उनकी ओर स्वतः ही खिंच जाता है, उनकी छोटी से छोटी बात जानने की भी हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। महत् पुरुषों के चरित्र में यही तो आकर्षण है, जहाँ हम उनके चरित्रों को आरम्भ करते हैं, तो हृदय में उत्तरोत्तर जिज्ञासा उत्पन्न होती जाती है आगे क्या हुआ, अब क्या होगा। इससे आगे का चरित्र और सुनने को मिले। महत् पुरुषों के चरित्र बड़े पुण्य से सुनने को मिलते हैं। जो नरपशु हैं, उनकी बात तो छोड़ दीजिये, जो सहृदय हैं, जिनके हृदय में स्नेह के लिये उर्वरा भूमि है, जिसमें प्रेम के अंकुर के उगने की आशा है, उनका तो जहाँ महापुरुषों के चरित सुनने का बीज पड़ा नहीं, कि वह अतिशीघ्र अंकुरित हो उठता है।

जब ध्रुवजी को राज महलों में पहुँचाकर महामुनि मैत्रेय मौन हो गये, तो बड़ी ही उत्सुकता के सहित विदुरजी पूछने लगे—"भगवन्! ध्रुव चरित समाप्त हो गया क्या? यह ठीक है, कि चरित्र सुखान्त ही श्रेष्ठ होता है। सुख के सुअवसर पर चरित्र की समाप्ति करनी चाहिये, किन्तु अभी तो ध्रुव चरित्र से हमारी तृप्ति नहीं हुई। वे तपस्या करके भगवत् साक्षात्कार करके घर आ गये, यह बड़े आनन्द की बात है, किन्तु अभी तो वे ६ वर्ष के बालक ही हैं? कैसे वे बड़े हुए? बड़े होकर क्या किया? विवाह किया या कोरे बाबाजी ही बने रहे, उन्होंने किस प्रकार राज्य किया? यह सब बातें हमें सुनाइये।"

विदुरजी की ऐसी उत्सुकता देखकर भगवान् मैत्रेय बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"विदुरजी! तुम ही धन्य हो, जो भागवतों के चरित्र सुनने को इतने व्यग्र बने रहते हो। नहीं तो इन संसारी लोगों की प्रवृत्ति तो सदा विषयवार्ता और व्यर्थ के वाद विवाद में ही होती है। ध्रुवजी का प्रधान चरित्र तो उनकी अलौकिक

भगवद्भक्ति ही है, जिसका वर्णन मैंने आपके सम्मुख किया। अब मैं उनका उत्तर चरित्र गार्हस्थ जीवन का वृत्त बताता हूँ, उसे आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

जिस प्रकार चन्द्रमा की कला नित्य बढ़ती है, जैसे पानी पाकर केला नित्य बढता है, जैसे वृक्ष का आश्रय पाकर बेल बढ़ती जाती है, जैसे मध्याह्नोत्तर प्राणियों की छाया बढ़ती है उसी प्रकार अपने माता-पिता के आश्रय में ध्रुवजी बढ़ने लगे। संसार के जितने सुख हो सकते हैं वे सब उन्हें पिता के भवन में सुलभ थे। माता सुनीति अत्यन्त स्नेह के साथ अपने लालकी सदा देख भाल करती, उसके मुख कमल को सदा जोहती रहती, कि इस पर किसी कारण से मलिनता न आने पावे। यह विकसित सरसिज के समान आनन कभी कुम्हिलाने न पावे। इस प्रकार माता पिता के प्रेम रूपी अमृतवारि द्वारा सिंचित ध्रुवजी बढ़ने लगे। अब उन्होंने बाल्यावस्था को पार करके किशोरावस्था में पदार्पण किया। वाणी कुछ मोटी-सी होने लगी, ओठ काले पड़ने लगे। लज्जा के भाव कुछ बढ़ने लगे। अंगों के भीतर छिपा हुआ यौवन द्वारों से उचककर झाँकने लगा। आँखों के डोरों में एक नवीन मादकता की रेखा सी प्रतीत होने लगी। यौवन की उठान में अङ्ग पुष्ट होने लगे। देखते-देखते ध्रुवजी तरुण हो गये। अब तो वे अपने पिता के राजकाज में सहयोग देने लगे। पहिले जो समय उनका माता के प्यार दुलार में, घर पर खेलने खाने में कटता था, अब वह पिता के सानिध्य में काम काज की चिन्ता में कटने लगा। वे प्रसाद पाकर पिता के पादपद्मों में पहुँच जाते और सिंहासन के नीचे बैठकर उनके प्रत्येक कार्य में सहयोग देते, मन्त्रियों की बातें समझते, प्रजा के दुःखों को सुनते और पिताजी से पूछकर उनकी आज्ञा लेकर सबको निर्णय भी सुना देते। उनके

ऐसे शील स्वभाव को देखकर सभी सन्तुष्ट होते। वे सबसे मधुर भाषण करते। जो भी आता उससे हँसकर पहिले प्रश्न पूछते, सबकी कुशल पूछते। सबके मनोरथों को पूर्ण करते। अब तो मन्त्री, अमात्य, सेवक, पदाधिकारी, परिजन, पुरजन, प्रजागण सभी की इच्छा थी, कि किसी प्रकार ध्रुवजी राज्यसिंहासन को सुशोभित करें।

पिता ने जब ध्रुवजी का ऐसा प्रभाव देखा तो उन्हें मन ही मन बड़ा आनन्द हुआ। राजर्षि महाराज उत्तानपाद अपने पुत्र की इतनी लोकप्रियता को देखकर फूले नहीं समाते थे। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ की ध्रुव ने सबके ऊपर क्या जादू कर दिया है।

एक दिन उन्होंने अपने मन्त्री, पुरोहित, राज्याधिकारी तथा प्रजा के मुख्य-मुख्य पुरुषों को बुलाकर कहा—"आप सब देख ही रहे हैं, मेरा बड़ा बच्चा ध्रुव अब युवा हो गया है, राज काज में भी निपुण है। यदि आप सब की सम्मति हो, तो मैं इसे ही सिंहासन दे दूँ? इसे ही राजगद्दी पर अभिषिक्त कर दूँ।"

इतना सुनते ही सभी अत्यन्त हर्ष के साथ एक स्वर में बोल उठे—"महाराज! आपका यह विचार बहुत ही उत्तम है। आप ध्रुव को अवश्य ही सम्राट् पद पर शीघ्र से शीघ्र अभिषिक्त करें।"

यह सुनकर बात को दृढ करने को महाराज उत्तानपाद बोले—"महानुभावो! मैं अभी समर्थ हूँ, आप सबकी शक्ति भर रक्षा करता हूँ, आप मुझे गद्दी पर से उतारकर ध्रुव को क्यों बिठाना चाहते हैं?"

यह सुनकर बुद्धिमान वृद्ध मन्त्री ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज! हम आपको गद्दी से उतार कहाँ रहे हैं। हम तो आपको फिर से राजगद्दी पर बिठाना चाहते हैं। जिससे प्रजा में

नूतन आनन्द की धारा बह निकले। सबको पारितोषिक मिले। जिस प्रकार आप नित्य नूतन-नूतन वस्त्र पहिनकर हमें सुखी करते हैं, उसी प्रकार अब हम आपको नूतन अवस्था में भी देखना चाहते हैं। पुत्र तो पिता की आत्मा ही है।"

इस उत्तर से महाराज को बड़ी प्रसन्नता हुई और बड़ी धूम धाम के साथ ध्रुवजी का राज्याभिषेक किया गया। सर्वत्र आनन्द मनाये गये। ब्राह्मणों को विविध भाँति के दान दिये। सेवक और आश्रितों को पारितोषिक वितरण किये गये। इस प्रकार ध्रुवजी के राजसिंहासन पर बैठते ही सर्वत्र सुख शान्ति का साम्राज्य हो गया। देवताओं ने स्वर्ग से नन्दन वन के फूल बरसाये।

इस प्रकार महाराज उत्तानपाद अपने यशस्वी भगवद्भक्त त्रैलोक्य वन्दित पुत्र के कन्धों पर राज्यभार रखकर उसे भाँति-भाँति के आर्शीवाद देकर तपस्या करने वन में चले गये। वहाँ वे संसार के सभी भोगों से विरक्त होकर आत्मस्वरूप का चिन्तन करने लगे।

ध्रुवजी राजा हो गये। समस्त भूमण्डल के एकछत्र राजा हो गये। तब उनकी माँ ने कहा—"बेटा! तू तो दिन भर राज-काज में लगा रहता है, घर पर मैं अकेली रह जाती हूँ, मेरा मन भी नहीं लगता। मुझे एक ऐसी मलूक-सी बहुआ-सी बहू लादे जिसके साथ मैं घर में बैठकर मन बहलाती रहूँ, इस वृद्धावस्था में मेरी वह कुछ सेवा करे। तुझे तो प्रजा की सेवा से ही अवकाश नहीं। फिर तू राजसिंहासन पर अकेला बैठा अच्छा भी नहीं लगता। राजा-रानी दोनों सिंहासन पर बैठते हैं इसलिये कहीं से मुझे एक बहूरानी और ला दे।"

ध्रुवजी ने लजाते हुए हँसकर कहा—"माँ! तू बहू फहू के चक्कर में क्यों फँसती है। ऐसे ही वंशी बजने दे। तेरी सेवा को कहे तो हजार दासियाँ और रख दूँ।"

माता ने अत्यन्त स्नेह से कहा—"ना बेटा! तू तो अभी बच्चा है, कुछ समझना बूझता नहीं। माता की सबसे सुखद और सबसे प्रबल इच्छा यही होती है, कि वह अपने बेटे को बहू के साथ देखे। दासी तू चाहे हजार लगा दे, और लगी हैं दासियों की कुछ कमी थोड़े ही है, किन्तु बेटा! दासी दासी ही हैं, बहू-बहू ही है। बहू की बराबरी दासियाँ कैसे कर सकती हैं? बहू जब सास के पैर दबाती है तो वह सुख करोड़ों दासियाँ मिलकर भी नहीं दे सकतीं। बहू चाहे आकर लड़ाई ही क्यों न करे। नित्य काली हंडी ही क्यों न मारे, फिर भी वह प्यारी है।"

यह सुनकर ध्रुवजी हँस पड़े और बोले—"अच्छी बात है, कहीं साँठ गाँठ लगाऊँगा।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! उन्हीं दिनों शिशुमार नामक एक प्रजापति थे उनकी भ्रमि नाम की सर्वगुणसम्पन्ना एक कन्या थी। ध्रुवजी ने माताजी की आज्ञा लेकर उसी के साथ बड़ी धूम धाम से विवाह किया। जब ध्रुवजी ने भ्रमि के साथ आकर माता सुनीति और सुरुचि के चरणों में प्रणाम किया, तो उन्होंने अपने को कृतार्थ समझा।"

इस प्रकार ध्रुवजी विवाह करके सुख के साथ रहने लगे। कालान्तर में उनके कल्प, वत्सर नाम के दो पुत्र हुए। अपनी वधू को पुत्रवती देखकर माता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसने अपने जीवन को नाती का सुख देखकर कृतार्थ समझा। ध्रुवजी ने इला नाम की एक कन्या के साथ और भी विवाह किया, जिसके गर्भ से उत्कल नाम का पुत्र तथा एक कन्या का जन्म हुआ। मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! ध्रुव समस्त भूमण्डल के राजा थे, समस्त प्रजा उन्हें पिता के समान मानती और पूजती थी। भ्रमिदेवी उनकी भगवत् बुद्धि से आराधना करती थी। माता, पुत्र और पुत्रवधू दोनों को अपनी दोनों आँखों की

पुतली समझती थी। घर में किसी वस्तु की कमी नहीं थी। अत वे बड़े आनन्द के साथ भगवत् स्मरण करते हुए कालक्षेप करने लगे।'

छप्पय

बोली इक दिन मातु—बहू अब बेटा आवै।
मेरे पूजे पैर तोइ भोजन करवावै॥
रुनुझुनु रुनुझुनु करत फिरै मन मोद बढ़ावै।
बहू संग लखि तोहि सफल जीवन है जावै॥
हँसे जानि ममता लखी, मुदित मातु मन अति भयो।
कन्या भ्रमि शिशुमार की, संग ब्याह ध्रुव करि लयो॥

भ्रातृवध के कारण ध्रुवजी का यक्षों पर कोप

[२४१]

उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो मृगयायां बलीयसा ।
हतः पुण्यजनेनाद्रौ तन्मातास्य गतिं गता ॥
ध्रुवो भ्रातृवधं श्रुत्वा कोपामर्ष शुचार्पितः ।
जैत्रं स्यंदनमास्थाय गतः पुण्यजनालयम् ॥*

(श्री भा० ४ स्क० १० अ० ३, ४ श्लो०)

छप्पय

पुत्र भये द्वै कल्प और वत्सर सुखदाई ।
दूसरि जाया इला पुत्र उत्कलकूं जाई ॥
उत्तम मृगया हेतु गये अविवाहित वनमहँ ।
भयो यक्ष सँग युद्ध प्रान त्यागे तिन रनमहँ ॥
सुरुचि पुत्र ढूँढन गई, दावानल में जरि मरी ।
यक्षनिपै अतिकोप करि, तुरत चढ़ाई ध्रव करी ॥

---

* मत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी ! सुरुचि के पुत्र उत्तम को तो अविवाहित अवस्था में ही जब वह हिमालय पर्वत पर मृगया के लिये गया था, तभी किसी बलवान् यक्ष ने मार डाला, उसकी माता भी उसके साथ ही चल बसी । ध्रुवजी ने जब अपने भाई उत्तम का यक्षों द्वारा मरण सुना तो क्रोध अमर्ष और शोक में भरकर, विजयी रथ पर चढ़कर उन्होंने यक्षों के रहने के स्थान अलकापुरी पर चढ़ायी कर दी ।"

भगवान् और सब अपराधों को तो क्षमा कर देते हैं, किन्तु भक्तापराध को वे क्षमा नहीं करते। भक्तों के प्रति भगवान् का अत्यधिक अनुराग है। भगवान् को तभी क्रोध आता है, जब उनके भक्तों को कोई कष्ट देता है। भले बुरे काम तो संसार में होते ही रहते हैं। उनका नियमन तो होता ही रहता है, भगवान् उनकी ओर उतना ध्यान नहीं देते, किन्तु जहाँ कोई उनके भक्तों को दुःख देता है, वहाँ वे अपने को नहीं सम्हाल सकते। हिरण्यकशिपु देवताओं को बड़े-बड़े कष्ट देने लगा। देवता सब मिलकर क्षीरसागर गये। भगवान् की स्तुति की। भगवान् ने पूछा—"क्या गोलमाल है?"

देवताओं ने दीनता के साथ कहा—"महाराज, हमें हिरण्यकशिपु बड़े-बड़े कष्ट दे रहा है।" भगवान् ने रुखाई के साथ कहा—"कष्ट दे रहा है, तो सहो। तुम भी कुछ घाटि थोड़े ही हो। तुम्हारा अवसर आता है, तो तुम भी तो उन्हें भाँति-भाँति के कष्ट देते हो। आपस में सुलझ लो।" देवताओं ने कहा—"महाराज! हम तो आपके भक्त हैं।" भगवान् हँसे और बोले—"जैसे तुम भक्त हो, वह तो सब मैं जानता हूँ। भक्तों के अपराध करने वालों का तो मैं नाश कर ही देता हूँ। तुम भी मेरे भक्त हो सो सही, किन्तु कुछ सट्ट-पट्ट भक्त हो, किन्तु मेरा असली भक्त प्रह्लाद तो अभी कई सौ वर्ष बाद पैदा होगा। जब उसको हिरण्यकशिपु कष्ट देगा, तब मैं उत्पन्न हूँगा। तब तक भैया, तुम प्रतीक्षा करो। भक्तापराध करने वाले को मैं बिना मारे छोड़ता नहीं। हाँ, यदि भक्त ही उनके लिये मुझसे प्रार्थना करें, तो मैं उन्हें भक्तों के कारण सद्गति भी दे देता हूँ।" इतना सुनकर देवता अपना-सा मुँह लेकर लौट गये और भक्तवर प्रह्लाद के जन्म की प्रतीक्षा करने लगे।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! मैंने ध्रुवजी के दो विवाह

और उनकी सन्तानों का वर्णन आपसे किया। अब आप और क्या पूछना चाहते हैं ?"

यह सुनकर विदुरजी बोले—"प्रभो ! ध्रुवजी के विवाह की बात तो आपने बताई, किन्तु उत्तमजी का विवाह किसके साथ हुआ। उनके कै सन्तानें हुईं, यह बात आपने नहीं बताई।"

मैत्रेयजी कुछ रूखे स्वर में बोले—"विदुरजी ! उत्तम का विवाह कहाँ, वह तो अविवाहित मर गया। और उसकी माता ने भी उसी के पथ का अनुसरण किया।"

इस पर विदुरजी ने पूछा—"क्या बात हुई, महाराज ! उत्तम कैसे मर गये ?"

मैत्रेय मुनि बोले—"बात क्या हुई विदुरजी ! यह जीव अपने किये का फल भोगता है। सुरुचि ने भक्तापराध किया था। ध्रुवजी को कुवाक्य कहे थे, उसका कुछ तो फल मिलना ही चाहिये। यद्यपि ध्रुवजी के मन में कोई ऐसी बात नहीं थी, वे अपनी सौतेली माता का अपनी सगी माता के समान आदर सत्कार करते थे। उत्तम को सगे सहोदर भाई की भाँति मानते थे। वे सब पुरानी बातों को भूल गये थे, वे भले ही भूल जायँ, किन्तु भगवान् तो भूलने वाले नहीं थे।"

एक दिन उत्तम अकेले ही मृगया के लिये हिमालय पर्वत पर चले गये। वे उन वनों और उपवनों में विहार करने लगे, जहाँ यक्षपति कुबेर के अनुचर रहते थे। गन्धमादन के उन शिखरों पर निर्भय होकर घूमने लगे जहाँ उपदेव अपनी स्त्रियों के साथ आनन्द विहार करते हैं। वहाँ पर इनका किसी यक्ष से वाद-विवाद हो गया। बातों ही बातों में रार होने लगी। गाली गलोज, फिर गुत्थम गुत्था सब अस्त्र शस्त्रों की भी नौबत आ गयी, यक्ष तो देवताओं की एक जाति विशेष हैं। उपदेव कहाते हैं, इनमें आकाश में उड़ने की, अन्तर्धान होने की स्वाभाविक

शक्ति होती है अतः उनसे बिचारे उत्तम कैसे जीत सकते थे। उसने इन्हें मार डाला।

जब कुछ दिनों तक उत्तम नहीं आया, तो ध्रुवजी को चिन्ता हुई। इधर उत्तम की माता के मन में न जाने क्या सन्देह हुआ, वह भी ध्रुवजी से बिना कहे एक दिन चुपके से अपने पुत्र को खोजने को निकली। घोर अरण्य में वह जा रही थी, वहाँ वन में दावाग्नि लगी, उसमें वह भी जलकर भस्म हो गयी। इस प्रकार माता पुत्र दोनों ने ही इहलौकिक लीला समाप्त कर दी।

ध्रुवजी अपने भाई उत्तम से बड़ा स्नेह करते थे, जब उन्होंने यक्षों द्वारा उत्तम की मृत्यु का समाचार सुना, तब तो उन्हें अत्यन्त ही क्रोध आया। वे यक्षों की इस अविनय को सहन न कर सके। वे सोचने लगे—"यक्षों का ऐसा साहस कि ये मेरे भाई को अकेले मार डालें। अच्छी बात है, उन्हें मैं उनकी अविनय का फल चखाऊँगा। उन्हें बताऊँगा, कि ध्रुवके भाई को मार देना साधारण बात नहीं है। आज वे अपने किये का फल पावेंगे। इतना सोचकर उन्होंने यक्षों की पुरी कुबेर की राजधानी पर चढ़ाई कर दी।

वे अपने विजयध्वज पर चढ़कर अकेले ही अलकापुरी की ओर चल दिये। उन्होंने न साथ में चतुरंगिनी सेना ली न कुछ विशेष युद्ध की सामग्री। उनको तो एकमात्र भगवान वासुदेव का भरोसा था, जिनकी कृपा से उन्हें समस्त सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उनके बाहुओं में अमित पराक्रम था, उन्हें भगवान के अतिरिक्त किसी अन्य बल की अपेक्षा नहीं थी। वे अपने बाहुबल के भरोसे कुबेर की अलकापुरी पर चढ़ गये और वहाँ जाकर उन्होंने बड़े जोर से युद्ध का शङ्ख बजाया।

उनके शङ्ख के ऐसे भीषण शब्द को सुनकर सभी के छक्के छूट गये। यक्षों की स्त्रियाँ भयभीत हो गयीं। बहुतों के गर्भ गिर

गये। बहुत सी घबराकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं। ध्रुवजी के शङ्ख का शब्द दशों दिशाओं में गूँज उठा था। यक्षों ने अत्यन्त विस्मय और कुतूहल के साथ उस भयङ्कर शब्द को सुना। वह समझ गये कि कोई हमें युद्ध के लिये ललकार रहा है। वे लोग युद्धिमानी थे, अपने को सर्वश्रेष्ठ वीर समझते थे, अतः उस शब्द को सहन न कर सकने के कारण वे अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर समर की समस्त सामग्री से सुसज्जित होकर सबके सब ध्रुवजी से लड़ने के लिये नगर से निकल पड़े।

ध्रुवजी ने जब देखा, ये सबके सब समर सामग्री से सुसज्जित हैं और सभी प्रहार करने के लिये उद्यत हैं तब तो उन्होंने यक्षों को अवसर ही नहीं दिया। पहिले से ही उन्होंने अपने तीक्ष्ण बाणों से यक्षों पर प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने अपने बाणों को चलाने की ऐसी हस्तलाघवता दिखाई, कि एक साथ ही उन्होंने अपने तूणीर से इतने बाण निकाले कि बात की बात में जितने यक्ष थे सभी के सिर में तीन-तीन बाण मारे। वह कभी भी मोघ न जाने वाले बाण यक्षों के माथे में लगकर ऐसे शोभित होने लगे मानो वे तीन सींग वाले साड़ हों।

यक्षों ने जब देखा, कि यह तो बड़ा बली प्रतीत होता है। इसने तो हमें अस्त्र-शस्त्र छोड़ने तक का भी अवसर नहीं दिया। उनके ऐसे अद्भुत कार्य को देखकर तथा उनकी हस्तलाघवता तथा बाण छोड़ने की चातुरी को देखकर समस्त यक्षगण शत्रु होने पर भी उनकी प्रशंसा करने लगे, कि ऐसा दुष्कर कर्म मनुष्य होकर भी कौन कर सकता है। फिर भी वे अपने को एक मर्त्य-लोक के मनुष्य से पराजित हुआ देखना नहीं चाहते थे। इसलिये अपने ऊपर जो ध्रुवजी ने तीन-तीन बाण छोड़े थे, उनका बदला चुकाने के लिये उन सब ने एक साथ ही ध्रुवजी के ऊपर छः छः बाण छोड़े।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! अलकापुरी में ध्रुवजी के साथ यक्षों का बड़ा भारी युद्ध छिड़ गया। दोनों ही पराजित होना अपना अपमान समझते थे। इसलिये युद्ध ने घोर रूप धारण कर लिया। दोनों में ही तुमुल युद्ध छिड़ गया।"

छप्पय

चढ़े चैत्ररथ चले यक्ष कुलकूँ सहारन।
देखी हिमगिरि पार पुरी अलका अति पावन॥
घू घू करिकें शङ्ख युद्धकूँ वेगि बजायो।
सुनि यक्षनि ने तुरत समर को साज सजायो॥
लड़िवे आये यक्ष मिलि, नहिँ अवसर ध्रुव ने दयो।
मारे सबके शिरनि सर, बड़ विस्मय सबकूँ भयो॥

ध्रुवजी का यक्षों के साथ घोर युद्ध

[२४२]

हतावशिष्टा इतरे रणाजिराद्
रक्षोगणाः क्षत्रियवर्यसायकैः।
प्रायो विवृक्णावयवा विदुद्रुवु-
र्मृगेन्द्रविक्रीडितयूथपा इव ॥*
(श्री भा० ४ स्क० १० अ० २० श्लो०)

छप्पय

सबई मिलिकें यक्ष अकेले ध्रुव पै झपटे।
चाप चक्र सम चले चहूँ दिशि चटचट चटके॥
खड्ग, परिघ, तिरशूल, परश्वध, शक्ति, भुसुण्डी।
चलें दनादन समर माहिँ विहरे रणचण्डी॥
एक बार ध्रुव रथ ढक्यो, यक्षनि बाणनितें जबहिँ।
रवि नीहारहिँ फारि ज्यों, प्रकटे रथ निकस्यो तबहिँ॥

जिस प्रकार खेल तमाशे मेले ठेले का अवसर आते ही बच्चे प्रसन्न होते हैं, जैसे विवाह का अवसर आते ही युवक युवती प्रसन्न होते हैं, जैसे कारावास से छूटते समय बन्दी अपने परि-

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! क्षत्रियों में श्रेष्ठ श्री ध्रुवजी के बाणों से मारे जाने से जो यक्षगण बच गये थे, उनके समस्त अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये, अतः वे रणभूमि से उसी प्रकार भाग गये जैसे सिंह से युद्धक्रीड़ा में परास्त होकर हाथियों के यूथप गजराज भाग जाते हैं।"

धार वालों से मिलकर प्रसन्न होते हैं, जेसे सहृदय गुणज्ञ पुरुषों में अपनी कविता सुनाने का अवसर आने पर सत्कवि प्रसन्न होते हैं। जैसे परदेश से पति के लौटने पर पतिव्रतायें प्रसन्न होती हैं, जेसे विविध प्रकार के व्यञ्जनों के भोज का अवसर आने पर स्वादुप्रिय पुरुष प्रसन्न होते हैं। जिस प्रकार पैसा प्राप्ति का सयोग होने पर धनलोलुप प्रसन्न होते हैं, कामी जैसे अनुरूप इच्छित कामिनी को पाकर प्रसन्न होते हैं, जेसे भगवद्भक्तों को पाकर हरिदास मुदित होते हैं उसी प्रकार युद्ध का अवसर आने पर शूरवीर प्रसन्न होते हैं। शूरवीर पराक्रमी पुरुषों को अपने बराबर वाले योद्धा के साथ युद्ध करने में जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी उसे अन्य किसी भी कार्य से नहीं होती।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! यक्षों ने जब ध्रुवजी के बाण चढाने का हस्तलाघव देखा, तब तो वे सब हक्के-बक्के रह गये। ध्रुवजी कब तूणीर से बाण निकालते हैं, कब उसे धनुष पर चढाते हैं कब छोडते हैं इन बातों का किसी को पता ही नहीं चलता था। जैसे गो-मुख की गुफा से निरन्तर बडे वेग से गंगाजी का प्रवाह बहता ही रहता है उसी प्रकार ध्रुवजी तूणीर से असंख्य बाण बिना बिलम्ब के तीव्र गति के साथ निकालते ही जाते थे। अब तो यक्षों को भी क्रोध आ गया। रक्त को देख कर रक्त उबलता है। खरबूजे को देखकर खरबूजा खिलता है। वीर को देखकर वीरता उमडती है उन सबने भी एक साथ मिल कर ध्रुवजी के ऊपर छः छः बाण छोड़े। वे एक दो तो थे नहीं अयुतों असंख्यों यक्ष थे, वे सब बदला लेने के लिये तुले हुए थे। इसलिये जिसके हाथ में जो ही अस्त्र लगा, वह उसी से ध्रुवजी के ऊपर प्रहार करने लगा। किसी ने परिघ का प्रहार किया तो किसी ने खड्ग लेकर ही धावा बोल दिया, कोई प्राश, तोमर, त्रिशूल, परश्वध, शक्ति, भुशुण्डी आदि शस्त्रों का प्रहार करने

लगे, कोई अपने चील के पङ्खों वाले चित्र विचित्र बाणों से ही ध्रुवजी को घायल करने लगे।

यद्यपि ध्रुवजी के शरीर से उन अस्त्र-शस्त्रों का स्पर्श भी नहीं होता था, किन्तु एक दो हों तो उन्हें काट दें, जब चारों ओर से अस्त्र शस्त्र और बाणों की वर्षा-सी होने लगी, तब तो बाणों के बाहुल्य से उनका सम्पूर्ण रथ उसी प्रकार ढक गया जैसे जाड़ों में हिमालय बरफ से ढक जाता है, अज्ञान से ज्ञान ढक जाता है, सिवार से पानी ढक जाता है, पाखण्ड से सद्धर्म ढक जाता है। ध्रुवजी का रथ अदृश्य हो गया। इस आश्चर्य को देखकर आकाश में स्थित सिद्ध देव तथा ऋषिगण हाहाकार करने लगे कि यह मनुवंश का मुकुटमणि आज अथाह सागर में डूबकर विलीन हो गया। उत्तानपाद कुल अंशुमान आज अस्ताचल में प्रस्थान कर गया।

यक्ष अपनी विजय समझकर किलकारियाँ मारने लगे, जय-घोष करने लगे, उछलने कूदने, नाचने गाने तथा आनन्द मनाने लगे। उसी क्षण क्या देखते हैं कि, जैसे बादलों को वायु द्वारा मेघों के छिन्न भिन्न हो जाने पर चन्द्रमा प्रकाशित होने लगता है, जैसे कुहरे को फाड़कर भगवान भुवनभास्कर उदित हो जाते हैं, उसी प्रकार उन सब अस्त्र शस्त्रों को तोड़ते-फोड़ते महाराज ध्रुव का रथ भी दिखायी देने लगा। रथ के दिखायी देते ही आकाश चारी सिद्ध गन्धर्वों ने महाराज ध्रुव का जयघोष किया। अब तो ध्रुवजी अत्यन्त कुपित हुए, उन्होंने बड़े जोर से अपने दिव्य धनुष को ज्यों खींचकर भयंकर टङ्कार किया। इससे यक्षों की नानी मर गयी। उनका सभी उत्साह भङ्ग हो गया। किंकर्तव्य विमूढ़ बन गये। उस समय ध्रुवजी ने उन्हें सम्हलने का अवसर ही नहीं दिया। इतनी शीघ्रता के साथ बाण-वर्षा की कि, उनके बाणों से यक्षों के कवच टूट गये, उनके शरीरों में बाण घुस

गये। रक्त से सने हुए इधर से उधर दौड़ते हुए वे सब ऐसे ही लगते थे मानों भयङ्कर भूकम्प में फूले हुए टेसू के वृक्ष डगमगा रहे हों, इधर-उधर हिल रहे हों।

अब क्या था, रणभूमि रक्तरञ्जित हो गयी। उसने भयङ्कर अगाध सरिता का रूप धारण कर लिया। यक्षों के शिर कट-कट कर इधर से उधर गिरने लगे, उनके कान कमनीय कुण्डलों से मण्डित थे, सिर पर मनोहर मुकुट शोभायमान था। वे कटे हुए सिर ऐसे ही लगते थे मानों विविध भाँति की मछलियाँ हों। यक्षों के शिरों से जो रक्त निकला था वही श्रावण भादों की नदी थी, उसमें ये मछलियों-की भाँति सिर तैर रहे थे। अंगदों के सहित कटी हुई बाहुएं ऐसी लगती थीं मानों सर्प बहे जाते हों। ताल वृक्ष के समान सुन्दर सुनहरी जङ्घायें कटकर बहती हुई ऐसी लगती थीं मानों असंख्यों मगर नदी में घूम रहे हों। चित्र-विचित्र हार सुवर्ण के सुन्दर वलय, रंग बिरंगे वस्त्र इधर-उधर छिटकते हुए बड़े ही भले मालूम पड़ते थे।

अब तो यक्षों में भगदड़ मच गयी, चलियोरे बचाइयोरे। ऐसे चिल्लाते हुए दशों दिशाओं में भागने लगे। किसी ने दीन होकर ध्रुवजी की शरण ली। उन भयभीत भागते हुए, डरे युद्ध छोड़कर पलायमान यक्षों पर ध्रुवजी ने धर्मानुसार प्रहार नहीं किया। यक्ष सबके सब भग गये। अकेले ध्रुवजी ही अपने दिव्य रथ पर चढ़े हुए रणभूमि में रह गये और मरे हुए यक्षों के असंख्यों शव। शेष सभी यक्ष भाग गये।

युद्ध समाप्त हुआ अब ध्रुवजी क्या करें। सम्मुख अपनी शोभा को आकाशमंडल में बिखेरती हुई झलमल-झलमल करती हुई अलकापुरी दिखायी दे रही थी। ध्रुवजी की इच्छा हुई, इस अनुपम नगरी की चलकर शोभा तो देखें। चिरकाल से इसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुन रहे थे। फिर सोचा—"अरे, मैया! अभी

मत चलो। ये यक्ष बड़े मायावी होते हैं, पता नहीं क्या माया रच दें। यह पराजय इनको धूर्तता ही हो, कुछ नया षड्यन्त्र न रच रहे हों। कहीं फिर अकस्मात् हमला न कर दें।

ध्रुवजी इस प्रकार अकेले बैठे हुए अपने रथ पर ये सब बातें सोच ही रहे थे, कि सहसा उन्हें आकाश में बड़े जोर की गड़गड़ाहट तड़तड़ाहट सुनायी दी। वे समझ गये यक्षों ने माया रची है इसीलिये सम्हलकर उन्होंने अपने धनुष पर डोरी चढ़ा ली। ध्रुवजी क्या देखते हैं, समुद्र के तूफान के समान प्रचंड वेग वाली आँधी चलने लगी, फिर इतनी धूलि उड़ी कि दशों दिशाओं में घोर अंधकार हो गया। उस घोर अंधकार में कभी-कभी चपला चंचला विद्युत् चमक जाती। आकाश से अपवित्र वस्तुओं की वर्षा होने लगी। निरन्तर रक्त, मल, मूत्र, पीव, विष्ठा, कफ आदि आकाश से गिरने लगे। कभी कबन्ध कटकर ऊपर से गिरते, कभी ओलों की वर्षा होती। कभी आकाश में पर्वत दिखायी देता, जिससे टूट-टूट कर बड़े-बड़े पर्वत-शिखर ध्रुवजी के रथ पर गिरते। भाले, बरछी, तोमर, प्रास, खड्ग, छुरी आदि की वर्षा होती। कभी-कभी ऊपर से फन उठाये विषधर सर्प गिरते, जो ध्रुवजी के रथ पर चढ़कर उनकी ओर जीभ लपलपाते हुए दौड़ते। कभी मतवाले हाथियों का झुण्ड, कभी सिंहों का झुण्ड, कभी वृक, व्याघ्र रीछों का झुण्ड आता हुआ दिखाई देता। कभी उन्हें ऐसा दीखता मानो प्रलय हो रही है, प्रलयकालीन समुद्र उमड़ता हुआ उन्हीं की ओर चला आ रहा है। उसमें वे क्षण भर में डूबना ही चाहते हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! यक्षों की ऐसी भयंकर आसुरी माया देखकर ध्रुवजी कुछ विचलित हुए, वे निर्णय न कर सके अब क्या करें। वह यह तो समझ गये, कि ये सब यथार्थ नहीं हैं, माया से निर्मित हैं, किन्तु इस माया का नाश

कैसे हो, यह उनकी बुद्धि में नहीं आया। तब ऊपर से ऋषि मुनि उन्हें संकेत में आशीर्वाद देते हुए बोले—"हे उत्तानपाद-नन्दन ! जिन भगवान् के नामों के सहारे संसार की सभी माया नष्ट हो सकती है। जिनके सुमधुर नामों का श्रवण कीर्तन करने से मनुष्य अनायास में ही इस अगाध संसार-सागर को बात की बात में पार कर सकता है, वे सारङ्गपाणि भगवान् वासुदेव तुम्हारी रक्षा करें। वे अशरण-शरण तुम्हारे मन का भ्रम दूर करें। वे शरणागत भयभञ्जन भगवान् भक्ताग्रगण्य आपकी रक्षा करें।"

ध्रुवजी इन आशीर्वचनों को सुनकर समझ गये कि माया नारायणास्त्र से ही शान्त हो सकती है। भगवान् के नाम के सम्मुख माया ठहर ही कैसे सकती है, अतः यह सोचकर उन्होंने आचमन किया और अपने धनुष पर भगवान् का नाम स्मरण करते हुए श्रीनारायणास्त्र को चढ़ाया। उस दिव्य अमोघ बाण के चढ़ाते ही यक्षों की माया उसी प्रकार नष्ट हो गयी जैसे शरद् के आने पर नदियों के जल की मलिनता नष्ट हो जाती है अथवा सूर्य के उदय होते ही रात्रि की समाप्ति हो जाती है, अथवा पानी के पड़ते ही अग्नि बुझ जाती है, अथवा भर पेट भोजन कर लेने पर बुभुक्षा शान्त हो जाती है, अथवा ज्ञान के उदय होने पर जैसे अविद्यादि क्लेशों का नाश हो जाता है।

जब माया नष्ट हो गयी, तब तो ध्रुवजी ने दनादन बाणों का छोड़ना प्रारम्भ किया। वे बाण यक्षों के शरीर में सन्न-सन्न करते हुए उसी प्रकार घुसने लगे जैसे वृन्दावन की कुञ्जों में कल-रव करते हुए मयूर घुस जाते हैं। वे बाण बड़े नुकीले थे, उनके मुख पर सुवर्ण लगा था, चील की पंखों तथा राजहंसों के पंखों से वे मण्डित थे। उन बाणों के प्रहारों को सहन करने में धनद कुबेर के अनुचर वे यक्ष समर्थ न हो सके। वे उसी प्रकार उन्हें

देखकर भागे जैसे सर्प गरुड़ को देखकर भागता है। वहिर्मुख कथा को देखकर जैसे भागता है। परनिन्दक पिशुन दम्भी जैसे भगवन्नाम कीर्तन को देखकर भागता है। अथवा कायर जैसे बाण वर्षा को देखकर भागता है। कुछ यक्ष साहस करके ध्रुवजी की ओर दौड़े, तो ध्रुवजी ने उन्हें बाण मारकर उस लोक मे पहुँचा दिया जहाँ के राजा दण्डक यम हैं। उनका शरीर तो रक्त से लथपथ हुआ समरांगण में पड़ा रह गया और प्राण पखेरू सदा के लिये परलोक प्रयाण कर गये। ऐसे एक नहीं सहस्रों लाखो अयुतों यक्ष मारे गये।

इस प्रकार यक्षो को मारे जाते देखकर स्वर्गलोक से भी ऊपर के लोकों में निवास करने वाले ध्रुवजी के पितामह स्वायम्भुव मनु ने जब यक्षों का ऐसा विनाश देखा, तो उन्हें उन पर दया आ गयी। अरे, यह हमारे वंश का बच्चा इन निरपराध यक्षों का व्यर्थ बध कर रहा है। यह सोचकर वे बड़े दुखी हुए।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब भगवान् मनु को यक्षों पर दया आयी तो वे ध्रुवजी को इस क्रूर कर्म से निवारण करने का निश्चय करके वहाँ से चलने को उद्यत हुए।"

छप्पय

ध्रुव फिरि मारे बाण घुसे यक्षनिके तनमें।
घायल ह्वैकें गिरे भगे गिरि, वन उपवनमें॥
फिरि प्रकटाई विकट कपट माया शत्रुनिनें।
ध्रुवकूँ नाम महात्म्य जतायो सत्य मुनिननें॥
तुरत चढ़ायो धनुषपै, ध्रुव नारायण अस्त्रकूँ।
यक्ष असंख्यनि मरि गये, बचे भगे तजि शस्त्रकूँ॥

स्वायम्भुव मनु का पौत्र ध्रुव को यक्ष वध से रोकना

(२४३)

अलं वत्सातिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना ।
येन पुण्यजनानेतानवधीस्त्वमनागसः ॥
नास्मत्कुलोचितं तात कर्मैतत्सद्विगर्हितम् ।
वधो यदुपदेवानामारब्धस्तेऽकृतैनसाम् ॥*

(श्रीभा० ४ स्क० ११ अ० ७, ८ श्लोक)

छप्पय

निरखि पौत्रको कृत्य दुखित मनु ढिँग ध्रुव आये ।
प्रेम भरे अति सरस वचन कहि कहि समुझाये ॥
बस, बेटा ! वध व्यर्थ न उपदेवनिको करि अब ।
वशवृद्धिके हेतु न यक्षनितैं तू लरि अब ॥
सहनशीलता दया अरु, मैत्री समतातैं हरी ।
होहिँ तुष्ट इन गुननितैं, क्यौं हिंसा इनकी करी ॥

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! यक्ष वध से निवृत्त कराने के लिये स्वायम्भुव मनु अपने पौत्र ध्रुव से कहने लगे—"बेटा ! बस, बहुत हो गया। जिस क्रोध के वशीभूत होकर तुम इन पुण्यजन यक्षों का वध कर रहे हो उस नरक के द्वार रूप पापी क्रोध को दूर करो। तुमने जो निरपराध यक्षों के वधरूपी कार्य को प्रारम्भ किया है वह हमारे कुल के अनुरूप नहीं है। बुद्धिमान लोग तुम्हारे इस कार्य की प्रशंसा नहीं करेंगे। विद्वानों द्वारा यह कार्य निन्दनीय है।

संसार में वे पुरुष धन्य हैं, जिन्हें प्रेमपूर्वक अत्यन्त स्नेह से अपने पुत्र पौत्र शिष्य और आश्रितों को डाँटने डपटने और कड़ी-कड़ी बातें कहकर समझाने का सुयोग प्राप्त होता है और वे उनसे भी अधिक धन्य हैं, जिन्हें अपने गुरुजनों की प्रेमभरी हितकर घुड़कियाँ सुनने का अवसर प्राप्त होता है।

जो छोटे पुरुष अपने बड़ों की डाँट डपट सुनकर मन से क्रोध नहीं करते, सिर झुकाये लज्जित होकर उनकी डाँट डपट सुन लेते हैं और उनके क्रोध करके पूछने पर भी नम्रतापूर्वक हँसकर ही उत्तर देते हैं। जो उनकी आज्ञा को अपने प्रतिकूल होने पर भी शिरोधार्य कर लेते हैं, ऐसे पुरुष बिना किसी यज्ञयाग के स्वर्ग को जीत लेते हैं। गुरुजनों की डाँट डपट भर्त्सना भाग्यहीनों को कभी प्राप्त नहीं हो सकती। जो अकुलीन हैं, जिनका मातृवंश या पितृवंश किसी पाप से दूषित हो गया है, ऐसे असहनशील पुरुष गुरुजनों की हितकर बातें सुनकर भी क्रोध करते हैं, उन्हें अपना शत्रु समझते हैं। उनके मुख पर ही कठोर वचन कहकर उनका तिरस्कार करते हैं। वे तो नरक से आये हुए प्राणी हैं, और फिर नरक को ही जाने के लिये बोरिया बिस्तरा बाँधे सामान इकट्ठा कर रहे हैं।

अहा! उस समय की शोभा कैसी दर्शनीय होती है, जब हमारे गुरुजन हमें अत्यन्त ममत्व के साथ हमारी अवहेलना करते हुए हमें डाँटते हैं, भली बुरी बातें कहते हैं और हम लज्जित हुए दोनों कंधों को झुकाये उनकी दृष्टि से अपनी दृष्टि को बचाते हुए डबडबायी आँखों से उनकी हितकर किन्तु ऊपर से परुष कठोर सी दीखने वाली बातों को बिना ननु नच किये सुनते रहते हैं। वे जब क्रोध में भरकर हमसे किसी बात का उत्तर चाहते हैं, तो सिर नीचा किये हुये अत्यन्त विवशता के स्वर में हँसते हुए उनकी बात का उत्तर देते हैं, यदि वे हमारे उत्तर से

असन्तुष्ट होकर उसमें अनेकों दोष निकालते हैं, तो हम उनका खण्डन नहीं करते लज्जित होकर उन्हें भी सहते रहते हैं, जिन आँखों को ऐसे सुशील सदाचारी नम्र पुरुषों और उनके हितैषी गुरुजनों की डाँट फटकार युक्त सम्वाद देखने को मिलता है उन दर्शकों की आँखें सफल हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब स्वायम्भुव मनु ने ध्रुवजी के द्वारा असंख्यों यक्षों का निरपराध वध देखा तो वे अपने वंश की वृद्धि के लोभ से ध्रुवजी को रोकने महर्लोक से अनेकों ऋषियों के साथ वहाँ आये।"

सूर्य की भाँति चमचमाते हुए विमान पर ऋषियों से घिरे आकाश से उतरते अपने पितामह को देखकर ध्रुवजी सम्भ्रम में पड गये। उन्होंने भूमि में लोटकर रथ से उतरकर उन्हें प्रणाम किया। बिना आशीर्वाद दिये ही शीघ्रता के साथ स्वायम्भुवमनु बोले—"बेटा ! बस, बस अब इस युद्ध को तुम समाप्त करो। यक्षों ने तुम्हारा क्या बिगाडा है क्यों इनका व्यर्थ वध कर रहे हो ? इनके मारने से तुम्हे क्या लाभ होगा ?"

हाथ जोडकर दोनों कन्धे झुकाकर धीरे से ध्रुवजी ने कहा—'महाराज ! ये निरपराध कैसे हैं इन्होंने तो मेरे भाई को मार डाला है।"

मनुजी डाँटते हुए कहा—"वाह ! यह अच्छी रही। भाई को इन सबने मारा है। किसी एक यक्ष ने मारा होगा। उस एक के पीछे तुम लाखों का संहार कर रहे हो यह कहाँ तक उचित है ? कौन बुद्धिमान पुरुष तुम्हारे इस निन्दनीय कार्य का समर्थन करेगा। कहते तो तुम यह हो यह काम मैंने अपने भाई के प्रेम के कारण किया है किन्तु यह सब अनर्थ तुमने क्रोध के वश में होकर किया है। क्रोध पाप का मूल है नरक का द्वार है, घोर अंधकार में ले जाने वाला है।

अत्यन्त नम्रता से ध्रुवजी बोले—"महाराज! हाँ मुझे क्रोध तो अवश्य आ गया, किन्तु मेरा क्रोध अकारण नहीं था। उसका मुख्य कारण मेरे भाई की हत्या थी। उसे अकेले इन लोगों ने मार डाला अब मैं अपने भाई को कहाँ पाऊँगा।" इतना कहते-कहते ध्रुवजी की आँखों में अश्रु बहने लगे।

इस पर कुछ कोमल होकर मनुजी बोले—"अरे, ध्रुव हम तो समझते थे तुम बड़े हो गये तुम कुछ बुद्धिमान भी हो गये होगे, तुम तो बच्चे के बच्चे ही बने रहे। बेटा! कौन किसे मारता है, अरे इस जड़ पाञ्चभौतिक शरीर के मोह से प्राणियों की हिंसा करना कहाँ तक उचित है। मेरे प्यारे बच्चे! सोचो इस बात को अपने भाई के वध से सन्तप्त होकर पशुओं के समान जीवों की हत्या करना यह भगवद्भक्तों का मार्ग है? भैया भक्त तो समदर्शी होते हैं वे तो मन से भी कभी किसी को कष्ट पहुँचाने का विचार नहीं करते। हमने तो सुना था तुम बड़े भगवद्भक्त हो, ५ वर्ष की अवस्था में ही तुमने अपने तप से उन परात्पर जनार्दन को सन्तुष्ट किया था जिनका सन्तुष्ट करना अत्यन्त हो कठिन है। उसका क्या यही फल है, कि निर्दयता पूर्वक जीवों का संहार करना? तुमने देखो कैसा दुर्लभ पद प्राप्त कर लिया है, तुमने समत्व भाव से सर्वेश्वर का ध्यान किया है, तुम्हारी गणना भगवद्भक्त-श्रेष्ठ पुरुषों में है। सभी श्रेणी के पुरुष तुम्हारा सम्मान सत्कार करते हैं। तुम्हारे वचनों को लोग प्रमाण मानते हैं तुम्हारे निर्दिष्ट पथ का असख्यों पुरुष अनुशरण करते हैं। ऐसे होने पर भी तुमने यह हमारे कमनीय कीर्तिवान कुल को कलङ्कित करने वाला कार्य कैसे कर डाला?"

ध्रुवजी ने किञ्चित रोष के स्वर में कहा—"महाराज! जो हमारा अपकार करता है, हमारे साथ शत्रुता रखता हो, उसके

साथ हम स्नेह का वर्ताव कैसे कर सकते हैं ?"

मनुजी ने कुछ घुड़ककर कहा—"फिर तुम वही मूर्खता की बातें करते हो। भैया, शत्रु मित्र कहीं बाहर नहीं हैं, अपनी अन्तरात्मा ही शत्रु है, वही मित्र है। संसार में अपने से छोटे बड़े, समान और साधारण चार ही प्रकार के लोग होते हैं। जो अपने से छोटे हों, अपने आश्रित हों, उन पर सदा दया दृष्टि रखनी चाहिये, उनके साथ सर्वदा कृपा करना चाहिये। जो अपने से बड़े हों, उनकी कड़ी से कड़ी बात को भी बिना विरोध के सहन कर लेना चाहिये। भूलकर भी उनके प्रति असहनशील न बने। जो अपने बराबर वाले हों उनसे मित्रता का स्नेह का बन्धुत्व का व्यवहार करना चाहिये। जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं सामान्य पुरुष हैं, ऐसे समस्त प्राणियों के प्रति समता के भाव रखने चाहिये। इस प्रकार व्यवहार बर्ताव करने से सर्वान्तर्यामी श्रीहरि शीघ्र से शीघ्र सन्तुष्ट होते हैं। भगवान् जहाँ सन्तुष्ट हुए बस फिर क्या है मार ली बाजी। बेड़ापार हो गया। संसार सागर सहज में ही तरकर जीव ब्रह्मपद का अधिकारी हो जाता है।"

ध्रुवजी ने कहा—"हाँ, भगवन्! आप जो कह रहे हैं वह तो सब सत्य ही है, फिर भी बन्धु वियोग से क्लेश होता ही है। आत्मा अजर अमर है, यह सत्य है फिर भी उसका आश्रय तो यह शरीर ही है। शरीर के नष्ट होने से संबन्ध भी नष्ट हो जाता है। सम्बंधी का वियोग हो जाता है। संसार में सबंधी से सयोग होना सर्वश्रेष्ठ सुख है और उसका वियोग होना दुस्तर दुःख है। सम्बन्धी के शरीर को नष्ट करनेवाले के प्रति तथा उसके सबन्धी के प्रति स्वाभाविक ईर्ष्या होती ही है।"

इस पर मनुजी ने कहा—"ईर्ष्या करना कुछ अच्छी बात तो है नहीं। पहिले तुम इस शरीर को ही समझ लो, शरीर क्या

हैं। ये पंचभूत ही चेतन के संगम से देह रूप में व्यक्त हो गये हैं। स्त्री पुरुषों ने अन्न आदि पार्थिव विकारों की वस्तुएँ खायीं। उनसे रज वीर्य बन गये। दोनों का संयोग हो जाने से एक बालक की उत्पत्ति हो गयी। बालक बढ़कर युवा हुआ। इसी प्रकार उसके भी बालक हो गये। यह चक्र अनादि काल से चल रहा है। इसीलिये राजन्! आप ध्यानपूर्वक सोचें ये शरीर क्या हैं? भगवान् की अचिन्त्य माया से सत्वादि गुणों मे न्यूनाधिक भाव होने पर इन समस्त शरीरों की उत्पत्ति स्थिति और नाश सदा होते रहते हैं। आप तो बुद्धिमान हैं श्रेष्ठ हैं शूरवीर हैं, सोचिये क्या यह दृश्य जगत् नित्य हैं। यह तो प्रकृति पुरुष के सयोग से एक प्रवाह चल रहा है। परमात्मा परमपुरुष तो जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय में केवल निमित्त मात्र हैं। जैसे चुम्बक के आश्रय से लोहा घूमता है उसी प्रकार अखिलकोटि ब्रह्माण्ड नायक श्रीमन्नारायण के आश्रय से यह सम्पूर्ण कार्य कारण रूप संसार घूम रहा है। इस विषय में आप मोह न करें।

मैत्रेयमुनि कहते हैं—"विदुरजी! बड़े लोग छोटों को 'आप' या सम्मान सूचक शब्द या तो उनकी जब हँसी उड़ाते हैं, तब कहते हैं, या जब उन्हें डाँटना डपटना होता है, तब कहते हैं। आज स्वायंभुव मनु अपने पौत्र को 'राजन्' कहकर सम्बोधन कर रहे हैं मानों उन्हें डाँट रहे हैं, कि तुम कैसे राजा हो, जो तुम अपने क्रोध को भी नहीं रोक सकते हो जब श्री मनुजी ने संसार के सभी कार्यों को भगवान् के ही आश्रय से बताया तब तो ध्रुवजी ने पूछा—"भगवन् ही यह सब करते कराते हैं, तो किसी को सुखी बनाते हैं, किसी को दुखी। फिर उनमें साम्यभाव कहाँ रहा। इससे तो उनमें नैर्घृण्य दोष आ जाता है। फिर जब वे कर्ता हैं, तो दुःख-सुख आदि फलों के भोक्ता भी होंगे?"

इस पर बड़े स्नेह से मनुजी ने कहा—"ना, भैया! ऐसी

बात नहीं है। देखो, जब तीनों गुण सम होते हैं, तो उसे प्रकृति कहते हैं, उस समय ससार का कोई कार्य नहीं होता। जब काल क्रम से समय आने पर भगवत् प्रेरणा से गुणों में सम विषमता न्यूनाधिकता होती है तब भगवान् की प्रजनन शक्ति में विषमता हो जाता है। तत्तद् गुणों के अनुरूप सृष्टि होने लग जाती है। वास्तव मे भगवान् तो कुछ करते धरते ही नहीं। शक्ति वैषम्यके के ही कारण वे ब्रह्मरूप रखकर इस सृष्टि का सृजन करते हैं। जब वे कर्ता नहीं तो भाक्ता और सहर्ता क्यों होने लगे, फिर भी तमप्रधान शक्ति से रुद्ररूप धारण करके समय आने पर चराचर विश्व का सहार भी करते हैं। अब उनकी शक्ति जितनी है, उसमें वैषम्य यों होता है, वे इस प्रपच रचना, पालन, तथा सहार क्यों करते हैं, यह उनकी अचिन्त्य लीला है। इसके सबध मे कोई निश्चित रूप से 'इत्थम्भूत' नहीं कह सकता कि इसका कारण यही है।

इसपर ध्रुवजी ने कहा—"भगवन्! एक बार तो आप कहते हैं भगवान् ही सब करते हैं और फिर कहते हैं, उन्हें सृष्टि स्थित प्रलय से कोई सम्बन्ध नहीं। जब वे कर्मों के फलदाता हैं और सम दृष्टि वाले हैं तो सबको एक-सा फल दें। यदि ऐसा नहीं करते किसी को अपना समझकर सुख देते हैं, किसी को पराया समझकर दुःख देते हैं तो पक्षपाती हुए और पक्षपात ही बन्धन का कारण है, तब तो वे भी हमारी भाँति जीव कोटि में आ जाते हैं?"

यह सुनकर मनुजी हँस पड़े और बोले—"यही तो भैया भगवान् की सर्वज्ञता है। वे सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते। स्वय तो वे उत्पत्ति से रहित अज हैं, किन्तु जगत् उत्पन्न करते हैं और उसमे आसक्त नहीं होते। सर्वथा पृथक् रहते है। स्वय अनादि है, किन्तु सबके आदि कारण वे ही हैं। स्वयं

वे काल स्वरूप अव्यय और अनन्त हैं। किन्तु समय-समय पर जगत् का अन्त भी वे ही करते हैं। उनकी किसी से उत्पत्ति नहीं हुई, किन्तु जीवों से जीवों की उत्पत्ति वे ही करते हैं। उन्हीं की प्रेरणा से एक जीव दूसरे जीवों के प्राणों के अन्त कर देते हैं। सबों को अपने कर्मानुसार फलों का भोग करा रहे हैं, उनका न कोई अपना है, न पराया। या तो सभी उनके अपने हैं या सभी पराये।"

मैं तुम्हें एक दृष्टान्त देता हूँ, वेग की वायु चलती है उसके साथ रजकण भी उडते हैं। वायु यह नहीं कहती मेरे साथ चलो यह नहीं कहती मत चलो। जहाँ तक जिसके उडने का संयोग समाप्त हुआ गिर जाता है। रज के कारण चलने से न वायु मे कोई विकार हुआ, गिरने से न उनकी कोई हानि हुई। यद्यपि सब उडते तो वायु के आश्रय से हा हैं, किन्तु वायु उनसे सदा निर्लेप ही है। इसी प्रकार जीव उन कालस्वरूप भगवान् का अनुगमन कर रहे हैं। उन्हीं की प्रेरणा से भोग-भोग रहे हैं, किन्तु अपने-अपने कर्मों के ही अनुसार दुःख भोगते हैं। भगवान् निर्लेप निर्विकार, निरंजन नित्यस्वरूप हैं। यद्यपि सर्वान्तर्यामी भगवान् ही कर्म बन्धनों के अधीन जीवों की आयु का परिणाम, वृद्धि, क्षय आदि का विधान करते हैं, किन्तु स्वय उनमे न वृद्धि है, न क्षय है, न कर्म है न बन्धन। लीला है, क्रीडा है, और क्या कहें जो है सो हो है। गूंगे का गुड है।"

ध्रुवजी ने कहा—"महाराज, यह तो वडी गडवड सी बात है। शास्त्रकारों मे भी वडे मतभेद हैं। कोई भगवान् को कर्ता मानता है कोई कर्म को ही प्रधान वताता है। कोई कुछ कहता है कोई कुछ। इतने मतभेद होने पर हम किसे सत्य मानें, किसे झूठ समझें?"

महाराज मनु वोले—"देखो, वेटा! एक वस्तु है उस एक को

भिन्न-भिन्न देशीय लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। जल है कोई उसे वारि कहता है, कोई पय कहता है, कोई नीर कहता है, कोई जीवन कहता है, कोई नार कहता है, कोई सलिल कहता है, इतने नाम होने पर भी जल तो एक ही है। किसी भी नाम से कोई माँगे उसे जल ही दिया जायगा। मीमांसक लोग भगवान् को 'कर्म' के नाम से पुकारते हैं। भगवान् के बिना कर्म की क्या सत्ता उनके मत में कर्म ही भगवान् हैं। चार्वाक आदि नास्तिक कहते हैं ईश्वर फीश्वर कुछ नहीं। सब स्वभाव से ही वर्त रहे हैं। 'स्वभाव' ही मुख्य है। तो यों समझो वे ईश्वर को स्वभाव कहकर पुकारते हैं। वैशेषिक आदि कहते हैं नहीं काल ही प्रधान है। काल कोई दूसरा नहीं ईश्वर की ही उन्होंने 'काल' संज्ञा मान ली है। कोई कहते हैं दैव ही सुख-दुःख में कारण है। करने कराने वाला 'दैव' है। उनके मत में दैव ही ईश्वर है। कोई वात्स्यायन आदि कामशास्त्रों के आचार्य कहते हैं "काम" ही प्रधान है। काम से ही सृष्टि है, काम से ही सुख है। वे ईश्वर को काम कह कर पुकारते हैं। बात एक ही है।

इस विषय में एक दृष्टान्त सुनिये। ग्रामीण लोग बहुत पढ़े लिखे नहीं होते, साधारण काम काज योग्य बातें जानते हैं। एक बुढ्ढे ने अपना हाथी बेचा वह २० तक गिनती जानता था। उसने कहा मैं अपना हाथी तीन बीस पर बेचूँगा। लेने वाले ने ६०) दे दिये कहा लीजिये ये ६०) हैं बुढ्ढे ने कहा मुझे ६०) नहीं चाहिये मैं तो तीन बीसी लूँगा। इस प्रकार दोनों में वाद-विवाद हो रहा था। एक बुद्धिमान् पुरुष आया, उसने ६० रुपयों को तीन स्थानों में २०, २० करके रख दिया। बुढ्ढा प्रसन्न होकर रुपये लेकर सन्तुष्ट हो चला गया। सो भैया, चाहे ६०) कहो या तीन बीसी सीधी नाक पकड़ो या घुमाकर। राम कहो श्याम कहो, कृष्ण कहो, राम कहो बात एक ही है। यद्यपि ये मह-

इत्यादि अनेक शक्तियाँ उनके ही द्वारा उत्पन्न हुई हैं और वे स्वयं भी अपने आप ही उत्पन्न हुए हैं। अपने आप क्या उत्पन्न हुए हैं, वे तो उत्पत्ति विनाश से रहित ही हैं, फिर अवतारादि धारण करने से उनकी उत्पत्ति उपचार से मानी जाती है। फिर भी वे क्या करना चाहते हैं इसे कोई नहीं जान सकता। न कोई अनुमान ही लगा सकता है।

ध्रुवजी ने कहा—"महाराज, मेरी भूल ही हुई। मैंने यही समझा कि इन कुबेर के सेवक यक्षों ने मेरे भाई को मार डाला है, अतः इनसे बदला चुकाना चाहिये।"

इस पर प्रसन्न होकर मनुजी बोले—"हाँ, भैया अब तुम्हारी बुद्धि शुद्ध हुई है। देखो, बेटा! कौन किसे मार सकता है सब दैववश अपने प्रारब्धानुसार जन्मते मरते हैं, तुम्हारे भाई का ऐसा ही प्रारब्ध था। भगवान तो गुण कर्मों से सदा पृथक् रहते हैं। पालन संहार आदि करते हुए भी वे अहंकार रहित होने के कारण उनसे सर्वथा परे हैं। उनकी शक्ति से ये सब कार्य होते रहते हैं।"

ध्रुवजी ने कहा—"तब, बाबाजी! मुझे क्या करना चाहिये?"

मनु महाराज हँस पड़े और बोले—"अरे भैया! करना क्या चाहिये। उन संसार के आश्रय मृत्यु तथा अमृत रूप उन श्रीहरि ही की सर्वात्मभाव से शरण में जाओ। उनकी ही शरण में जाने से, उन्हीं की कृपा से तुम परम शांति को प्राप्त कर सकोगे। वे ही समस्त ब्रह्मादिक देवताओं को उसी प्रकार नचा रहे हैं, जैसे लोग ऊँट तथा बैलों को नाक में नकेल डालकर जहाँ चाहे ले जाते हैं, जिधर चाहें उधर नचाते रहते हैं।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! अपने पितामह के ऐसे सार गर्भित वचन सुन ध्रुवजी लज्जित हुए और उन्होंने अपना

अपराध स्वीकार किया। इससे स्वायम्भुव मनु बड़े प्रसन्न हुए और थोड़ी देर ठहरकर प्यार के साथ और भी उन्हें शिक्षा देने लगे।"

छप्पय

अरे, जगत महँ कौन जिवावे को किन मारे।
जगकूँ वेई रचें अन्त महँ वे संहारें॥
जीवनि कूँ उपजाय जीवतें जीव जिवावें।
मारें जीवनि जीव बड़े छोटनि कूँ खावें॥
नहिँ यक्षनि तव बन्धुवध, कीन्हों सब है दैव वश।
क्रोध वैरकूँ त्यागि अब, सब ईश्वर कृत समुझि अस॥

स्वायंभुव मनुजी की आज्ञा से ध्रुवजी की यक्षवध से निवृत्ति

[२४४]

हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम् ।
यज्जघ्निवान् पुण्यजनान् भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः ॥
त प्रमादय वत्साशु सन्नत्या प्रश्रयोक्तिभिः ।
न यावन्महतां तेजः कुलं नोऽभिभविष्यति ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० ११ अ० ३३ ३४ श्लो०)

छप्पय

लोकपाल शिव सखा, धनद, यक्षनि के ईश्वर ।
क्षमायाचना करो देहिँगे तुमको शुभ वर ॥
जब तक करें न क्रोध पैर परि विनय सुनाओ ।
हाथ जोरि है नम्र शरन उनकी तुम जाओ ॥
विविध भाँति समुझाइ कें, मनु अन्तर्हित ह्वै गये ।
करिकें पश्चाताप बहु, अति विनीत ध्रुवजी भये ॥

जब किसी से कोई कार्य उसकी स्थिति के प्रतिकूल हो जाता है, तो हमें उसके कुल की–उसके वंशजों की–कीर्ति का कथन

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! स्वायम्भुव मनु अपने पौत्र ध्रुवजी से कहते हैं—"देखो, बेटा ! तुमने शंकरजी के सखा भगवान् धनेश्वर का अपमान किया है। यही समझकर कि ये मेरे भाई उत्तम को

करके समझते हैं, उसके पूर्वकृत का स्मरण कराके उसे कार्य से हटाते हैं। उस उस कार्य के दोष दिखाकर उसके मन में घृणा उत्पन्न कराते हैं। परलोक का भय दिखाते हैं। सारांश यह है कि उसे हर प्रकार से शक्ति भर कुमार्ग से हटाने का प्रयत्न करते हैं, यही बड़ों का बड़प्पन है। यही गुरुजनों का सहज स्नेह है, यही उनकी सम्बन्धीपने की ममता है।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—'विदुरजी! इस प्रकार अनेक युक्तियों से विश्व की अनित्यता विषयों की क्षण भगुरता और भगवान् की भगवत्ता को सिद्ध करते हुए स्वायंभुव मनु ने अपने पौत्र ध्रुव को समझाया जब उन्हें विश्वास हो गया, कि मेरे कथन का ध्रुव पर प्रभाव पड़ा है और वे अपनी भूल मानने लगे, तब उनके पूर्व कृत कर्मों का स्मरण दिलाते हुए उनकी महत्ता बताने लगे।

मनुजी कहने लगे—"ध्रुव! तुम भूल गये क्या भैया! अरे देखो तुमने केवल पाँच वर्ष की ही अवस्था में किसी से न होने वाला दुष्कर तप किया था और हजारों लाखों वर्ष की तपस्या से भी सहज मे प्रसन्न न होने वाले भगवान् का तुमने केवल ६ महीने में ही साक्षात्कार किया था। वे बातें तुम्हें स्मरण नहीं रही क्या? याद करो अपनी सोतेली माता के वाग्बाणों से विद्ध होकर तुम जिनकी शरण गये थे और उनकी प्रसन्नता होने पर सुदुर्लभ ध्रुव पद प्राप्त होने का तुमने वरदान प्राप्त किया था उन निर्गुण अद्वितीय अविनाशी भगवान् वासुदेव को फिर अपने अन्त करण में खोजो, वे कहीं चले थोडी गये हैं तुम्हारे

मारने वाले हैं क्रोध करके जो तुमने यक्षों को मारा है। यह ठीक नहीं किया। सो भैया! जब तक ये महापुरुष जो कुबेरजी हैं इनका तेज हमारे कुल का नाश न करे, तभी तक तुम अति शीघ्र नम्रता, मधुर भाषण और विनय के द्वारा भगवान् कुबेर को प्रसन्न कर लो।

हृदय में ही बस रहे हैं, इसलिये तो वे वासुदेव कहलाते हैं। उन्हीं में यह भेदभाव मय दृश्य प्रपच सत्य की भाँति प्रतीत हो रहा है। क्रोध और रोप के कारण तुम्हारी बाह्य दृष्टि हो गयी है। इसलिये बेटा! अन्तर्दृष्टि करो अन्तर्दृष्टि होते ही उन अचिन्त्य महिमा वाले प्रत्यगात्मा अखिल आनन्द के निलय अशेष, गुणगण आश्रयभूत सर्वशक्तिसम्पन्न, सच्चिदानन्द भगवान् वासुदेव में तुम्हारी दृढ भक्ति हो जायगी।

ध्रुवजी ने अत्यन्त ही विनीत भाव से कहा—"महाराज भगवद्भक्ति होती नहीं, सब कुछ समझकर मन उन भगवान् वासुदेव के चरणारबिन्दों में लगता नहीं। भगवान् में प्रेम हो इसकी कोई सरल सी युक्ति आप बतावें।"

मनु बोले—"बेटा! भगवान् में भक्ति क्यों नहीं होती क्योंकि यह मन तो मैं मेरा तू तेरा की धुना बुनी में लगा रहता है, जब तक यह अहता ममता की अविद्या रूपी दृढ ग्रन्थि न खुले तब तक भगवत् स्मृति कैसे हो सकती है। हृदय की ग्रन्थि खुल जाय सम्पूर्ण सशयों का छेदन हो जाय शुभाशुभ कार्य क्षीण हो जायँ, तो प्रकाश दिखाई दे। ये सब कार्य उन परावर प्रभु के दर्शन मात्र से एक साथ हो जाते हैं। यह सब होते हैं उन्हीं की कृपा से। रोग तभी छूटेगा जब उसका भोग समाप्त होगा। फिर भी योग्य चिकित्सक के बताये हुये मार्ग से पथ्य पूर्वक रहकर औषधि सेवन करते रहना चाहिये। सयम से औषधि और उपचार करने से रोग शान्त हो जाता है उसी प्रकार और सब झंझट छोड़कर भागवती कथाओं का श्रवण करो निरन्तर उन्हीं का मनन करो परस्पर में उन्हीं के प्रचार प्रसार की बातें करो, भागवती कथायें ही एकमात्र ससार सागर से पार ले जाने वाली दृढ नौकायें हैं। निरन्तर भागवती कथाओं के श्रवण मनन से ये काम, क्रोध, द्वेष आदि स्वतः ही शान्त हो जायँगे, कल्याण मार्ग

में सबसे बड़ा विघ्न यही है। भागवती कथाओं को छोड़कर हम संसारी विषयी लोगों की कथायें कहने लगते हैं उन्हीं की निन्दा स्तुति आलोचना करने लगते हैं। यह जीव के पतन का सबसे बड़ा कारण है। अतः भगवत् गुणों का निरन्तर नियम से श्रवण करते रहना यही भगवान् में प्रेम होने का सरल सुगम सर्वोपयोगी मार्ग है।

ध्रुवजी ने हाथ जोड़कर कहा—"अब महाराज! जो हो गया सो हो गया। अब आप जो आज्ञा देंगे वही मैं करूँगा। अब इस अपराध का क्या प्रायश्चित्त करूँ?"

प्रसन्न होकर मनुजी ने कहा—"अच्छा, जो हो गया सो तो हो ही गया। अब एक काम करो। अति शीघ्र जाकर तुम भगवान् कुवेर के चरणों में पड़कर उनसे क्षमा याचना करो। तुम तो अभी बच्चे हो, समझते नहीं भैया वे बड़े पूजनीय देवता हैं, लोकपाल हैं सम्पूर्ण निधियों के भण्डारी हैं, भगवान् सदाशिव के वे प्रिय मित्र हैं। उत्तर दिशा के अधिपति हैं, उन्हें तुम साधारण देवता मत समझो। उनके तो दर्शन ही किसी भाग्यशाली को होते हैं। तुम तो अपने पूर्वजन्मों के सुकृतों से यहाँ तक आ गये, नहीं तो साधारण लोगों की तो यहाँ तक पहुँच ही नहीं। वे सर्वसमर्थ हैं, यदि वे क्रोध करें तो शाप देकर हमारे समस्त कुल का सत्यानाश कर सकते हैं। यह तुम्हारा सौभाग्य है, कि तुम्हारे इतने अपराध पर भी वे अभी तक कुपित नहीं हुए। जब तक वे कुपित नहीं होते, तभी तक तुम शीघ्र जाकर उन्हें विनय नम्रता, स्तुति पूजा से सन्तुष्ट करो वे प्रसन्न होकर तुम्हें मुँहमाँगा वरदान देंगे।"

ध्रुवजी ने कहा—"महाराज, मैंने उनका अपराध तो बहुत किया है। एक यक्ष के अपराध के पीछे मैंने उनके असंख्यों अनु-

चरों का वध किया है, इससे मैं उनके सम्मुख मारे लज्जा के कैसे जाऊँगा ?"

मनुजी ने कहा—"भैया ! देखो जो जितना ही बड़ा होता है, वह उतना ही बड़ा सहनशील भी होता है। जो जितना क्षुद्र होता है, वह उतनी ही ओछी छोटी और रागद्वेप की बातों को स्मरण रखता है। कुवेरजी लोकपाल हैं, वे तुम्हारे अपराधों की ओर ध्यान न देंगे। हाथ जोड़ लेना यह सबसे श्रेष्ठ मुद्रा है। हाथ जोड़ लेने से शीघ्र ही देवता तथा श्रेष्ठ लोग प्रसन्न हो जाते हैं। तुम हाथ जोड़कर हृदय से पश्चात्ताप करते हुए नम्र होकर उनकी शरण में जाओगे, तो वे तुम्हारे अपराधों को भूल जायँगे, उलटे प्रसन्न होकर तुम्हारा मङ्गल करेंगे। तुम्हें आशीर्वाद देंगे।"

अपने पितामह की ऐसी बातें सुनकर ध्रुवजी को अपने कृत्य पर हृदय से पश्चात्ताप हुआ।

अब स्वायंभुव मनुजी ने कहा—"अच्छा, तो बेटा ! हम तो अब अपने लोक को जाते हैं। तुम्हारा कल्याण हो।" इतना सुनते ही ध्रुवजी ने शीघ्रता से समस्त ऋषि मुनियों के सहित अपने परम पूजनीय पितामह की प्रेमपूर्वक पूजा की। पाद्य अर्घ्य आचमनीय देकर यथोपलब्ध सामग्रियों से उनका सत्कार किया। इस प्रकार ध्रुवजी द्वारा पूजित और सत्कृत होकर स्वायभुव मनु महर्षियों के सहित अपने लोक को चले गये।

अपने पितामह के चले जाने के अनन्तर ध्रुवजी का समस्त क्रोध शान्त हो गया, अब तक वे अपनी प्रकृति में नहीं थे, भ्रातृ प्रेम के कारण जो उनके मन में क्रोध उत्पन्न हो गया था, उसके कारण उनकी हिंसा वृति जागृत हो उठी थी। अब जब श्रीमनुजी ने उन्हें विविध भाँति से तत्वज्ञान का उपदेश दिया तो उनकी हिंसावृति निवृत्त हो गयी। अब उन्हें अपने कृत्य पर हृदय से

पश्चात्ताप हुआ। वे सोचने लगे—"मेरे पितामह ठीक ही कहते थे, मैं चाहे समस्त यक्षों को मार डालूँ। फिर भी मेरा भाई उत्तम तो जीवित हो नहीं सकता। फिर जिनको मैं मार रहा हूँ, इन्होंने तो उसे मारा नहीं। इन्हें तो पता भी न होगा, उत्तम कौन है किसने कहाँ मारा उसे मारा। मैं इनकी हिंसा व्यर्थ ही कर रहा हूँ। अकारण ही इनसे द्वेष मान बैठा हूँ।"

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! जब हृदय शुद्ध हो गया और अपने किये पर वे पछताने लगे, तब तो वे वरदान के अधिकारी हो गये। वे इसी चिन्ता में मग्न थे, कि मैं क्या मुँह लेकर भगवान् धनेश के सम्मुख जाऊँ। वे मुझे देखकर क्या कहेंगे। यही सब सोचते हुए वे अपने कर्तव्य का निर्णय न कर सके।"

छप्पय

गुरुजन आज्ञा करें ताहि जे सिर पै धारें।
छाड़े, तर्क कुतर्क करें झट बिना विचारे॥
ते जगमहँ धन धान्य सुयश के होवें भागी।
अन्त परम पद पाहिँ बनें प्रभु के अनुरागी॥
ध्रुव सुनि श्रद्धा सहित सब, मनु आज्ञा स्वीकृत करी।
यक्षनि प्रति हिंसा जगी, ज्ञान अग्निमहँ सो जरी॥

ध्रुवजी को धनद कुबेर का वरदान

[२४५]

स राजराजेन वराय चोदितो
ध्रुवो महाभागवतो महामतिः ।
हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया
तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः ॥*
(श्रीभा० ४ स्क० १२ अ० ८ श्लोक)

छप्पय

ध्रुव कूँ समझ्यो शान्त धनद ढिँग उनके आये ।
बोले—"बेटा ! बीर काज करि काहि लजाये ॥
यक्ष न मारे तुमनि उननि नहिँ उत्तम मार्यो ।
क्रूर काल सब करै कालतें सब जग हार्यो ॥
मनु आज्ञा मानी तुमनि, अति प्रसन्न मम मन भयो ।
वर माँगो मन भावतो, विहँसि धनद ध्रुवतें कह्यो ॥

हृदय में जब तक हिंसा के भाव हैं, तब तक उससे सभी भयभीत होते रहते हैं । कृपा करने वाले पास भी नहीं आते ।

---

* मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! राजराजेश्वर श्री कुबेर ने ध्रुवजी से वरदान माँगने को कहा, तब उन महामति महाभागवत श्री ध्रुवजी ने उनसे श्रीहरि का मुझे अविचल स्मरण बना रहे, यही वरदान माँगा । जिस भगवत् के स्मरण के प्रभाव से मनुष्य सहज में ही इस दुस्तर अज्ञान रूपी अन्धकार से पार हो जाता है ।'

हिंसा तो द्वेष से होती है। जिनके हृदय में द्वेष है उस पर कौन कृपा कर सकता है। हृदय से हिंसा हटी नहीं कि फिर सब ओर से कृपा की दृष्टि होने लगती है, सभी उसके सानुकूल हो जाते हैं, शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। बिराने भी अपने बन जाते हैं। उसके सभी अपराध भुला दिये जाते हैं, उसका सब ही सत्कार करते हैं।

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी ! जब ध्रुवजी को उपदेश देकर स्वायंभुव मनु चले गये, तब ध्रुवजी सोचने लगे, कैसे मैं कुबेरजी के समीप क्षमा याचना करने चलूँ। कुबेर जी तो सर्वज्ञ ही ठहरे। ध्रुवजी के मन का भाव अपने योग बल से समझ गये, कि अब ध्रुवजी का क्रोध निवृत्त हो गया है, उनकी वृत्ति शान्त हो गयी है और वे अपने कर्म पर पश्चात्ताप कर रहे हैं, तो वे अपने विमान पर चढ़कर ध्रुवजी के समीप चले। उस समय उनकी शोभा अपूर्व थी। जितने यक्ष, चारण, गन्धर्व, किन्नर, स्त्री, पुरुष आदि देव उपदेव हैं, वे सब उनकी उपासना और स्तुति कर रहे थे, उनके ऊपर श्वेत छत्र लगा था, दोनों ओर चमर ढुल रहे थे। असंख्यों बहुमूल्य मणियों और मोतियों की मालायें वे धारण कर रहे थे। अपनी आत्मा से दशों दिशाओं को आलोकित करते हुए कुबेरजी सहसा ध्रुवजी के सम्मुख प्रकट हुए।"

आकाश में आते हुए धनद कुबेर के प्रकाशवान् विमान को देखकर ध्रुवजी की दृष्टि चकाचौंध हो गयी। सहसा संभ्रम के साथ। उठकर उन्होंने लोकपाल धनद को अभ्युत्थान दिया। दण्डवत प्रणाम करके हाथ जोडे हुए सिर नीचा करके वे उनके सम्मुख अपराधी की भाँति खड़े हो गये।

विजयी ध्रुवजी के इस शील स्वभाव और नम्रता को देखकर कुबेरजी अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और अत्यन्त स्नेह के स्वर में

कहने लगे—"हे क्षत्रियसिंह शावक! मैं तुम्हारे शील स्वभाव से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हूँ। यह बड़े ही मङ्गल की बात है, कि तुमने अपने पितामह के आदेश से यक्षों के प्रति बढे हुए अपने वैर को हृदय से त्याग दिया। भैया, तुम निष्पाप हो, तुम्हारी बुद्धि सदा धर्म में लगी रहती है, तभी तो उनका सदुपदेश तुम्हारे हृदय में बैठ गया। नहीं तो मनुष्य जिससे भी वैर कर लेता है उसे फिर छोड़ता नहीं। हृदय में उत्पन्न हुए वैर-भाव को सर्वथा छोड़ देना यह दुष्कर कार्य है। वह दुष्कर कार्य आज तुमने किया अतः मैं तुम पर अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ।"

ध्रुवजी ने अत्यंत ही विनीत भाव से दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधे हुए कहा—"प्रभो! क्रोध के वशीभूत होकर मैंने आपके असंख्यों निरपराध अनुचरों को मार डाला। इससे मेरे पितामह मुझसे अत्यन्त असन्तुष्ट हुए और उन्होंने मुझे आज्ञा दी, कि मैं आपसे अपने अपराध के लिये विनम्र होकर क्षमा याचना करूँ। अतः भगवान् भूल में जो मेरे द्वारा आपका अपमान हुआ हो उसे आप क्षमा कर दें, आपके सेवकों को जो मैंने मारा है, इस अपराध को भी आप अपनी कृपालुतावश भूल जायँ।"

इतना सुनते ही हँसते हुए कुबेरजी ने कहा—"अरे भैया ध्रुव! तुम तो स्वयं बुद्धिमान और ज्ञानी हो। कौन किसे मार सकता है, कौन किसे जिला सकता है। सबके मृत्यु का काल और सयोग पहिले से ही निश्चित हो जाता है, कि यह अमुक काल मे अमुक के द्वारा अमुक-अमुक स्थान मे मरेगा। जितने यक्ष मर गये हैं उनकी मृत्यु भी इसी समय यहाँ समर के बीच में आपके द्वारा होनी थी सो हो गयी। यही बात उत्तम के सम्बन्ध में भी समझ लो उत्तम की मृत्यु ऐसे ही बदी था। उसे कोई टाल नहीं सकता था। काल की गति दुर्निवार्य है उसका अतिक्रमण करने की सामर्थ्य किसमें है।"

यह सुनकर ध्रुवजी ने कहा—"हाँ महाराज! यह तो सब सत्य ही है। फिर भी इस कार्य द्वारा अपमान तो हुआ ही। मेरे द्वारा इस अविनय को आप क्षमा करें और मेरे ऊपर क्रोध न करें।"

इस पर प्रेम के साथ कुबेरजी कहने लगे—"वत्स! अहंता ममता के कारण बन्धन और दुःख आदि विपरीत अवस्थाओं की प्राप्ति होती है। यह मेरा है, तेरा नहीं। मेरे को तू कैसे ले सकता है आदि मिथ्या अभिनिवेश मनुष्य को अज्ञान के वश होता है। जैसे स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं वैसे ही जाग्रत के भी मिथ्या हैं। ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह संसारी वस्तु के नष्ट हो जाने पर किसी से क्रोध क्यों करेगा। जब सत् एक ही है, तो फिर वह अपराध करेगा किसका जब अपराध ही नहीं तो क्षमा याचना किसकी करें और किससे करें? इसलिये भैया, तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम अपने नगर को आनन्द पूर्वक जाओ, चिन्ता को छोड़ दो पश्चात्ताप को तिलाञ्जलि दे दो। अब तुम इस असार संसार से सदा के लिये पार होने के लिये उस परात्पर प्रभु का निर्व्यलीक भाव से भजन करो। यह सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का स्वरूप है वे अपनी गुणमयी माया शक्ति से युक्त होकर भी वास्तव में सर्वथा गुणों से रहित हैं। संसारी कोई भी पदार्थ सेवनीय नहीं है। सदा सर्वदा एकमात्र सेवनीय तो उन सर्वेश्वर के अरुण कमल सदृश कोमल कमल चरण ही हैं उन्हीं की तुम सर्वात्मभाव से शरण में जाओ। उन्हीं का सर्वात्मभाव से भजन करो।"

ध्रुवजी अन्यमनस्क भाव से बोले—"महाराज! भजन ही तो नहीं होता। एकमात्र चिन्तनीय उन अच्युत के चरणारविन्दों में चित्त लगता ही नहीं।"

यह सुनकर हँसते हुए कुबेरजी ने कहा—"भैया हमने तो

ऐसा सुना है, कि तुमने ५ वर्ष की अल्पावस्था में ही भगवान् अधोक्षज का साक्षात्कार कर लिया था। हम तो समझते हैं तुम सर्वथा भगवान् कमल नाभि के चरणारविन्द के रस के लोलुप मत्त भ्रमर हो। तुम श्रेष्ठ भगवद्भक्त हो। यद्यपि हममें तो कुछ भक्ति भाव है नहीं, फिर भी हम तुमसे बड़े हैं। देवता हैं इसलिये तुम हमसे वरदान माँगो। तुम जो भी वर माँगोगे वही मैं तुम्हें दूँगा। तुम माँगने में किसी प्रकार का सकोच मत करो।'

यह सुनकर हाथ जोड़े हुए ध्रुवजी ने अत्यन्त विनय के साथ कहा—"प्रभो! संसारी भोगों को तो आपसे माँगू क्या वह तो मेरे पास पर्याप्त है। जिनको सन्तोष नहीं उन्हें सम्पूर्ण सुख मिल जाने पर भी तुष्टि नहीं, अतः पृथ्वी या स्वर्गादि सुखों की तो मुझे कमी नहीं। इच्छा भी नहीं। आप यदि वरदान देना ही चाहते हैं तो यही दीजिये कि प्रभु के पाद पद्मों में निरन्तर अहैतुकी भक्ति बनी रहे।"

यह सुनकर कुबेरजी हँस पड़े और बोले—"भैया! प्रभु के पाद पद्मों में तो स्वयं हमारी ही भक्ति नहीं है, फिर हम तुम्हें दे कैसे सकते हैं। फिर भी हम तुम्हें बड़े होने के कारण हृदय से आशीर्वाद देते हैं, कि तुम्हारी भगवान् में सर्वदा अव्याभिचारिणी भक्ति बनी रहे।"'

मैत्रेय मुनि कहते हैं—"विदुरजी! इस प्रकार कुबेरजी भक्ताम गण्य ध्रुवजी को भगवद्भक्ति का वरदान देकर वहीं अन्तर्धान हो गये। ध्रुवजी देखते के देखते रह गये। फिर उन्होंने उस उत्तर दिशा को प्रणाम किया और अपने दिव्य रथ पर चढ़कर अपने नगर को चले आये और वहाँ आकर नाना प्रकार के भोगों को भोगते हुए सुख पूर्वक राज काज करने लगे। उनका मन सदा भगवान् वासुदेव के चरणारविन्दों में ही लगा रहता था ब्रह्मावर्त में रहते हुए वे बड़े-बड़े विशाल यज्ञों द्वारा, जिनमें द्रव्य

क्रिया और देवताओं के द्वारा ही कर्म होते थे, उनके द्वारा उन पुराण पुरुष का भजन पूजन करने लगे। उनकी सर्वात्मा श्री अच्युत में प्रबल भक्ति थी, वे सर्वत्र समस्त चराचर प्राणियों में अपने इष्ट को ही समझते थे और भगवद्बुद्धि से सबकी वन्दना करते थे। ऐसे शील सम्पन्न, सदाचारी, जो ब्राह्मणों के भक्त दीनों के वत्सल, धर्म मर्यादा की रक्षा करने वाले उन ध्रुवजी के प्रति समस्त भू मण्डल की प्रजा का पिता की भाँति अनुराग था। इस प्रकार अनेक प्रकार के धर्म पूर्वक ऐश्वर्य और सुखों का उपभोग करते हुए उन्होंने पुण्य का क्षय किया और तपस्या तथा बड़े बड़े यज्ञों द्वारा पाप का क्षय किया। इस प्रकार सब कर्मों को यथावत् करते हुए उन्होंने ३६ हजार वर्ष तक पृथ्वी का शासन किया।

छप्पय

हाथ जोरि ध्रुव कहे—कृपा करुणाकर कीजे।
हरि चरणनि अनुराग 'दया करि मोकूँ दीजे॥
शम्भु सखा सुनि कहैं—सदा तुम भक्त भूपवर।
कृष्ण चरनमहँ भक्ति तुम्हारी बढ़े निरन्तर॥
यों कुबेर वरदान दै, तत्क्षन अन्तर्हित भये।
स्वप्न सरिस घटना भई, ध्रुव देखत ही रहि गये॥

[इससे आगे की कथा, बारहवें खण्ड में पढ़िये]